कौरव-पाण्डव कथा पर आधारित उपन्यास : ४

रामकुमार भ्रमर

अधिकार

सरस्वती विहार

रामकुमार भ्रमर

अधिकार



मूल्य : 35·00 (पैंतीस रुपये)

प्रथम संस्करण : 1984

प्रकाशक | सरस्वती विहार
जी० टी० रोड, शाहदरा
दिल्ली-110032

ADHIKAR (Novel) by RAMKUMAR BHRAMAR

'अधिकार' से 'अग्रज' तक

'महाभारत' के चरित्रों में कर्ण गुण-दोषों से पूर्ण ऐसे मनुष्य हैं, जिनका जीवन अद्‌भुत संयोगों और घटनाओं से भले ही भरा हुआ हो, किन्तु उनका संघर्ष नितान्त मानवीय है ! वह कुन्ती की कौमार्यावस्था में उत्पन्न पुत्र हैं, जिन्हें माता ने समाज-भय से त्याग दिया है। अपने अद्‌भुत व्यक्तित्व और कर्तव्य-क्षमता से कर्ण समाज में उच्चतम राजनीतिक शक्ति के रूप में तो स्थापित हो जाते हैं; किन्तु तत्कालीन समाज और व्यवस्था में कर्ण उस न्यायिक अधिकार के लिए जीवन-भर तड़पते रहते हैं, जो उनका सहज वांछित है ! जीवन-भर वह अज्ञात कुलशीलता का ऐसा कलंक ढोते रहते हैं, जो उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व और मानवीय गुणों को निरंतर दोषग्रस्त किए जाता है ! उन्हें अपना जन्म-रहस्य मालूम है, अपनी कुलीनता और जन्मदाता माता-पिता की भी जानकारी है; पर वह चाहते हैं कि माता-पिता ही उन्हें स्वीकारें। वह अपने मुंह से उनका नाम लेकर उन्हें लांछित नहीं करना चाहते। समाज, राजनीति और कुलीनता का ढोंग वैसा होने नहीं देता और कर्ण क्रमशः कुंठाग्रस्त होते हैं। वे विद्रोह के नाम पर दोषों को चुन लेते हैं और फिर लगातार दोष किए जाते हैं।

फिर सहज गुणों से पूर्ण मनुष्य का एक भावनापूर्ण नया संघर्ष प्रारंभ होता है। इस संघर्ष को उसने अनजाने ही स्वयं आमंत्रित कर लिया है। यह है, कर्ण के स्वाभाविक गुण और पीड़ा के कारण ओढ़े गए दोषों का द्वंद्व ! कर्ण अपने भीतर एकसाथ अच्छे और बुरे आदमी हैं। वे एकसाथ

धर्म और अधर्म हैं। वह ऐसी दुविधा हैं, जो समाज का वह हर पात्र झेलता है, जिसका जन्म कर्ण की तरह हुआ हो और जिसने कर्ण की तरह अपने पराक्रम से मनुष्य की श्रेष्ठतम उपलब्धियां और यश अर्जित किए हों ! दोषियों को दंडित न कर, दोष को दंडित करने वाले समाज की ऐसी पीड़ा हैं कर्ण, जिनका जीवन सब कुछ पाकर भी सब कुछ खोने के अहसास में बीता है। घोर आत्म-संघर्ष से भरे कर्ण का अद्भुत व्यक्तित्व सदा ही जीवंत और यथार्थ लगता है। उनकी पीड़ा, दुःख और सुख सभी कुछ पाठकों के मन को अजानी वेदना और सहानुभूति से भर देते हैं। 'महाभारत' के औसत पात्र जब राज्य, वैभव, सम्पत्ति आदि के लिए महासमर में उतरते हैं, तब कर्ण अकेले व्यक्ति हैं, जिनकी सारी लड़ाई केवल समाज के प्रति 'अधिकार' की लड़ाई रही है। ये लड़ाई कर्ण केवल कुरुक्षेत्र की रणभूमि में नहीं, समूचे जीवन बहुविधि स्तर पर हर पल लड़ते रहे हैं।

अर्जुन के हाथों कुरुक्षेत्र युद्ध में कर्ण मारे गए हैं; किन्तु मूल महाभारत में अनेक अंश ऐसे आए हैं, जिनके अनुसार लगता है कि कर्ण मारे नहीं गए, आत्म-बलिदान किया है उन्होंने ! संभवतः इस आत्मबलिदान में ही उन्होंने अपनी अनन्त आत्म-पीड़ा का समाधान खोजा है।

५३/१४, रामजस रोड, करौलबाग,
नयी दिल्ली-११०००५

—रामकुमार भ्रमर

अधिकार

दूर-दूर तक छोटे-बड़े शिविरों का एक सिलसिला फैला हुआ था। दृष्टि-पार तक सेना का पड़ाव। शाम ढलने के साथ ही घायलों को चिकित्सा-केन्द्रों तक पहुंचाकर यथासंभव उपचार दिया जा रहा था। कालरंग की कालिख से पुती हुई रात और यहां-वहां बिखरे प्रकाश के छोटे-बड़े अनंत बिन्दु।

भव्य युद्ध-शिविर से जिस पल कर्ण बाहर आए—उसी पल ठिठककर इधर-उधर देखने लगे थे। मन-मस्तिष्क काली रात की ही तरह लिपा-पुता। विचार का कोई प्रकाश-बिन्दु, किसी भी कोने में नहीं।

आंखें दृश्य को यंत्रवत् देखती रही थीं। कान उन कराहों और चीत्कारों से भर उठे थे, जो पिछले कई दिनों से निरंतरता बन चुके थे··· जिस दिन यह काल-समर प्रारंभ हुआ, उस दिन ये कराहें-चीत्कारें अवश्य सुनाई पड़ी थीं, फिर महारथी भीष्म और द्रोण के सेनापतित्व में बीते दिनों के साथ ही इस तरह नियमित हो गई थीं कि सुनकर भी सुनाई नहीं पड़ती थीं। ऐसे, जैसे घाव की पहली कसक, मन को हिला डाले, फिर उसकी क्रमबद्धता के साथ-साथ निरंतर हिलते रहना मन का सहज स्वभाव बन जाए।

यही कुछ हो रहा था वीभत्स नरसंहार के उस युद्ध-यज्ञ में!

घूमती दृष्टि को विचारों की वल्गा से थामा—रथ की ओर बढ़ चले। कुछ समय पहले महाराज दुर्योधन का सन्देश आया था—'अंगराज कर्ण से

मिलना चाहते हैं !'

रथारूढ़ हुए, फिर एक झटका देकर घोड़ों को दिशा दिखाई। अगले ही क्षण रथ अंगराज को लिये हुए वायुगति से कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन के शिविर की ओर दौड़ चला।

समूचे रास्ते में विशाल कौरव सेना की पचासों-सैकड़ों टुकड़ियां बिखरी हुई थीं। सशस्त्र सैनिक यहां-वहां घूमते दीख रहे थे। हर टुकड़ी के चिकित्सा-शिविर में चीखों और आकुल कराहों के छोटे-छोटे समुद्र ठाठें मारते हुए। हर तरफ दौड़-धूप और सरगर्मी। बहुत-से सैनिक आयुधों को संजोते-संवारते हुए। बहुतेरे अगली सुबह के युद्ध की प्रतीक्षा में।

अंगराज ने वातावरण की हर स्थिति और दृश्य से मन को मोड़ा। महाराज दुर्योधन का भव्य शिविर सामने था। रथ रुकते ही कर्ण तेजी से उतरे और शिविर-द्वार की ओर बढ़े।

द्वारपालों ने अभिवादन किया। कर्ण शिविर में समा गए।

सेवक लपका हुआ आया। प्रणाम करके सूचना दी, "महावीर ! मंत्रणा-कक्ष में महाराज आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

बिना कुछ उत्तर दिए कर्ण—मंत्रणा-कक्ष की ओर बढ़ गये।

कुरराज दुर्योधन के इर्द-गिर्द बैठे थे—शल्य, शकुनि, कृतवर्मा और कृपाचार्य। सभी चिन्तित। सभी रात्रि के अन्धकार से कहीं गहरा अन्धकार मन-शरीर पर ओढ़े हुए। अंगराज कर्ण ने जैसे ही शिविर के मंत्रणा-कक्ष में प्रवेश किया—वैसे ही सभी ने उन्हें इस तरह देखा था, जैसे चीखकर कह उठे हों—'बचाओ, पुरुषसिंह ! किसी तरह पराक्रमी कौरव-सेना का यह महानाश बचाओ ! हम सबकी रक्षा करो !'

कैसी दुविधा, चिन्ता, भय और आतंक में डूबी थीं उनकी आंखें ?

कर्ण जितने चकित हुए, उससे कहीं अधिक दु:खी। सहसा उन्हें झल्लाहट ने घेर लिया था। युद्ध-समय पर सेनानायकों की यह मानस-दशा क्या युद्ध-पूर्व ही उनकी पराजय घोषित नहीं कर रही है ?

कुछ बोलना भी चाहते थे। एक तरह से सभी को धिक्कार देना चाहते थे; पर उसके पूर्व दुर्योधन उठ खड़े हुए। कहा, "आओ, नरश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था। तुम्हीं हो, जो अब महान् कुरुवंश की रक्षा कर सकते हो ! केवल तुम हो, जिसका पराक्रम धीमे-धीमे साहस-मृत होती जाती कुरु-सेना को सहसा जीवंत कर सकता है। हम सभी का निश्चित मत है कि इस घोर संग्राम में अब तुम्हारे नेतृत्व की आवश्यकता है !"

कर्ण कुछ बोले नहीं। मन खिन्न हो गया था। बहुत कुछ कड़वाहट-भरी हुई थी मन में, जिसे उगल देना चाहते थे, स्पष्ट कह देना चाहते थे—'कुरुराज! तुम जैसे टूट जाने वाले व्यक्ति को मित्र रूप में पाकर मुझमें भी भय-संचार होने लगा है ! क्या युद्ध में पराजय-भय से योद्धा युद्ध करते हैं ?...' किन्तु कहा नहीं। जाने क्यों लगा था कि इस समय कटु-शब्द बोलकर मित्र को ज्यादा ही आहत कर देंगे। मन में पल-भर पूर्व दुर्योधन के प्रति उपजा आया क्रोध-भाव सहसा उसके लिए सहानुभूति में बदल गया। चुप रहे।

"मित्र !" दुर्योधन का गला भर्राया हुआ था, "महाप्रतापी भीष्म और पूज्य द्रोणाचार्य का मारा जाना मुझे बहुत आहत कर गया है ! सदा ही धर्म की बात करते रहें। पांडवों ने जिस अधर्म और षड्यंत्र से उन दोनों महारथियों का संहार किया—वह तुमसे छिपा नहीं है ! इस युद्ध में अब मेरे लिए विजयश्री से कहीं अधिक यह इच्छा-भर शेष रही है कि ऐसे नीच और छली शत्रुओं का संहार कर सकूं। तुम मेरे ही नहीं, इस समूचे कौरव वंश और कुरु-सेना के एकमात्र विश्वास रहे हो अंगराज ! तुम ही हो, जिसे लेकर सब जानते हैं कि कौरव सेना से जयश्री पाना असंभव है ! केवल, तुम हो, जिसमें गांडीवधारी अर्जुन की संहारक शक्तियों का सामना करने और उसे परास्त करने की क्षमता है ! तुम्हारे रहते न तो पांडव विजय-कल्पना कर सकते हैं और न मैं पराजय जैसा शब्द सोच सकता हूं ! अत: मेरे मित्र ! मैं तुमसे प्रार्थना करता हूं कि कौरव-सेना का संचालन

अपने हाथ में ले लो !"

कर्ण ने होंठ खोलने चाहे; पर तभी शकुनि बोल पड़े—"हां, कर्ण ! यही समय है, जब तुम प्रधान सेनापतित्व संभालकर गान्धारी पुत्र की रक्षा कर सकते हो ! तुमने कुरु-राज्य का विस्तार किया है, अपने पराक्रम से महाराज प्रतीप के कुल को सदा ही सम्मान दिलवाया है ··· हम सभी की इच्छा है कि तुम यह महत् दायित्व संभालो और तुम्हारे निर्देशों पर चलकर रणभूमि में हम लोग दुर्योधन का शुभ करें !"

और फिर वे सब समर्थन स्वीकार में बोलते रहे ··· कृपाचार्य, दुःशासन, कृतवर्मा ··· सभी। सभी चाहते थे कि कर्ण सेनापति बनें। आशा और विश्वास की चमक लिये हुए दुर्योधन की दृष्टि मित्र पर टंकी थी।

कर्ण ने कहा था—' निराश न हो मित्र ! कर्ण के जीवित रहते पांडव-पक्ष विजय की कल्पना तक नहीं कर सकता ! तुम्हारे मैत्री-भाव और स्नेहादर से कर्ण का रोम-रोम आभारी है ··· यदि प्राण देकर भी मैं मित्र-धर्म पूरा कर सका तो अवश्य करूंगा ! तुम निश्चिन्त हो ! कल सुबह के साथ महान् कौरव सेना अपने परम्परागत विजय-अभियान को श्रीगणेश करेगी ! पांडव और उनके सहायक, महाबली भीष्म और आचार्य से किए गए छल का पूरा-पूरा हिसाब देने के लिए बाध्य होंगे ! अब तुम अपने मन को आशंका और चिन्ता से मुक्त कर लो !"

अंगराज के हर शब्द और संवाद की ध्वनि व उतार-चढ़ाव उपस्थित कौरव योद्धाओं के चेहरों से निराशा की कालिख इस तरह उतरता चला गया था, जैसे सूरज अपनी प्रकृति के विरुद्ध सहसा रात में उग आया हो ··· किरणों की अंगुलियों ने उनके चेहरों को प्रकाश से नहला दिया हो।

कर्ण उठ पड़े। उनके चेहरे पर सूर्योदय की तरह तेज फैला था ··· । दुर्योधन ने तेजी से आगे बढ़कर, उन्हें सीने से लगा लिया। हर्षावेग से उसका शरीर-मन दावानल की झुलसन से अनायास राहत पा गए किसी वृक्ष की तरह हिल उठे ··· खुशी में डबडबाते कुछ शब्द होंठों से बाहर आ गए—"मैं निश्चिन्त हुआ मित्र ! विश्वस्त भी हुआ कि जय कुरु-पक्ष की ही होगी ! शत्रु नष्ट हो जाएगा और पितामह के बाण-विध्य शरीर की पीड़ा के हर क्षण का मूल्य पांडव अवश्य चुकाएंगे।"

उत्तर में कर्ण ने कुछ नहीं कहा। केवल दुर्योधन की पीठ थपथपाई। इस थपथपाहट में शब्दों से कहीं अधिक सांत्वना थी।

अंगराज, दुर्योधन, शल्य, कृतवर्मा आदि के साथ मंत्रणा-कक्ष से बाहर आए। सबने उन्हें उनके रथ तक छोड़ा···वल्गा को झटका देकर अश्व को चलने का संकेत देने से पहले कर्ण ने एक बार फिर से मित्र के हरियाए हुए चेहरे पर दृष्टि डाली···लम्बी, गठी हुई भुजाओं में हलकी-सी थिरकन हुई और रथ जिस गति से आया था, उसी गति से अपने शिविर की ओर दौड़ चला। कालरात्रि की सनसनाती हवा रथ पर शिलावत् खड़ कर्ण के आस-पास से चीखती हुई गुजर रही थी···पर कर्ण थे कि कहीं और, किसी अलग वातावरण में खोये हुए!

अभी—कुछ पल पहले कर्ण द्वारा अपने ही लिए कहे गये शब्द उनके अपने कानों में वायु से कहीं अधिक गतिमान होकर गूंजे—'···कर्ण के जीवित रहते, पांडव-पक्ष विजय तो दूर, विजय की कल्पना तक नहीं कर सकता!'

हलके-से रथ ने एक बार झटका लिया। घोड़े एक ओर मुड़ गए थे। कर्ण ने वल्गा पुनः झटकाई···वे सही दिशा में चल पड़े। धरती पर पड़ती उनकी टापें ठप्-ठप्-ठप् करती हुईं सन्नाटे में जोर-जोर से बजीं।

इस ध्वनि को कर्ण ने भी सुना···लगा, जैसे इस ध्वनि के साथ ही मन किसी और यात्रा पर दौड़ चला है···वही गति, वही वेग और वही ध्वनि···बहुत जानी-पहचानी यात्रा। बहुत जानी-पहचानी राहें और बहुत जाना-पहचाना उन राहों का वातावरण, उस वातावरण में बिखरी हुई हवाएं, हवाओं से यहां-वहां जलते क्षेत्र,···या जल के खिलखिलाते निर्मल झरने! यही तो है कर्ण का अपना जीवन···

कर्ण का अपना शिविर—आत्म-शिविर। आत्मयुद्ध!

युद्ध-शिविर की ओर बढ़ते हुए कर्ण को लगा था कि अपने पर ही हंस पड़ें। युद्ध तो उनके जीवन से कभी गया ही नहीं? न कभी शिविर का एकांत हटा। न कभी दुर्दांत युद्ध-क्षेत्र! न रातों का वीभत्स सन्नाटा हटा। न सुबह के साथ सामाजिक रण-क्षेत्र में आकर बाण संधान करने की कर्ण-क्रिया और न ही समाज के शब्द बाणों से पल-पल छलनी होता कर्ण का आत्म!

कोई दिन खाली नहीं जब युद्ध न किया हो। कोई पल खाली नहीं जब या तो बाण झेला न हो या बाण संधान न किया हो! यही तो है कर्ण का जीवन! यही कुल कर्ण!

युद्ध से अलग यदि कुछ है तो केवल इतना ही कि इस युद्ध को कर्ण ने किसी सेना के साथ सहारे से नहीं, सदा अकेले ही लड़ा है···

सामने रही है समाज व्यवस्था और परम्पराओं की असंख्य सेना··· जिसका न तो कभी ओर दीखा है, न छोर···और उनके बीच रहे हैं कर्ण! अकेले! सूर्य-तेज से सराबोर कर्ण! कटु-सत्य के ऐसे पुंज की तरह, जिसकी चकाचौंध को समाज ने कभी नहीं सहा। हर बार व्यग्र होकर बदहवास प्रहार प्रारंभ कर दिए हैं! किसी बार सूत-पुत्र कहकर! किसी बार अज्ञात-कुल-शील व्यक्ति पुकारकर! किसी बार धिक्कार की असंख्य दृष्टियां फेंककर और किसी बार व्यंग्य-बाणों की नोकें सीने में चुभोकर—'तुम तो सूर्यपुत्र हो कर्ण! कुंती के कोख-जाये!'

कभी-कभार मन होता है कि स्मृति-दर्पण के सामने खड़े होकर अपने बदन पर पड़े उन घावों को देखे, गिने, उनकी कसकनों और कराहों का लेखा-जोखा करें, जो कर्ण को इस जीवन-भर के युद्ध में समाज-व्यवस्था के रणक्षेत्र से मिले हैं···

पर नहीं! किसी बार ऐसा कर नहीं सके। जब-जब किया—असफल रहे। न तो घावों की गिनती हो सकी, न ही कसकनों-कराहों का लेखा-जोखा ले सके! हर बार स्तब्ध खड़े अपने को ही देखते रह गए! मन-शरीर का कोई हिस्सा ऐसा नहीं बचा है, जिससे लहू न रिस रहा हो···? जिसका घाव भर गया हो?···कुछ भी नहीं दीखता!

और जो कुछ दीखता है वह कर्ण का होकर भी नहीं होना है ! केवल एक बच्चे की उपस्थिति सद्यजात शिशु, जिसे जनमने के साथ ही असंख्य-अनगिनत कांटों की झाड़ियों में फेंक दिया गया—जिस करवट मुड़ेगा, हजार-हजार कांटे सिर से पांव तक समा जाएंगे ! जिस राह सरकेगा कांटों के वे घाव लम्बी-लम्बी धाराओं की तरह पूरे जिस्म पर खिचते चले जाएंगे !

झाड़ियों के गिर्द खड़े होंगे कुलीनता के भव्य राजमहल, उच्च जाति, कुल और शील के ऊंचे-ऊंचे शिखर···कांटों में पड़ा कर्ण टुकुर-टुकुर उन्हें देखता रहेगा ! यह देखना, तरसना, शिखरों को न छू सकना ही उस शिशु की नियति !

असल में कुरुक्षेत्र का यह घिनौना महासमर कर्ण को कौरव-पांडव समर नहीं लगता···लगता है जैसे एक शिशु के विरुद्ध असंख्य कांटों का कभी समाप्त न होने वाला युद्ध है ! युग-युगों तक चलने वाला अनिर्णीत युद्ध !

कर्ण ने यह युद्ध खूब लड़ा है···उसी पल लड़ना प्रारंभ कर दिया था, जिस पल उसे नदी में बहाया गया ··अपनी ही लड़ाई की वह अद्भुत-कथा सुनकर स्वयं कर्ण भी चकित होकर अविश्वसनीय दृष्टि से माता को देखता रह गया था ! विश्वास नहीं हो रहा था उनके शब्दों पर···बुदबुदाकर कह भी दिया था, "नहीं-नहीं, माता ! मुझे बहलाओ मत ! भला ऐसा भी कभी होता है कि कोई मां अपने बालक को निर्ममता से शक्तिमयी नदी की वेग-धाराओं को सौंप दे ?···उंहुं ! मैं नहीं मानता !"

राधा-ममतामयी, निर्मल और शांत राधा—टकटकी बांधे हुए बालक वसुषेण को देखने लगी थीं···कहा था—"अनंत की लीला भी अनंत ही होती है पुत्र ! तू विश्वास करे या न करे, पर मैं शब्दशः सत्य कह रही हूं···तू मुझे माता गंगा के कृपाशीष से ही मिला है ! अविश्वास मत कर !"

"पर मां···?" सहसा बहुत भावुक हो गया था बालक···सरल आंखें भर आई थीं। अपने बारे में, अपनी ही बातें जानकर विश्वास करने का मन नहीं होता था। इस बात ने कुछ अधिक ही आहत किया कि कर्ण—

राधा का बेटा नहीं है ! राधा उसकी पालनमयी मां ! जीवनदायिनी ! जन्मदायिनी कोई और है। कहां है ? कौन है ? किसीको ज्ञात नहीं।

राधा असमंजस में पड़ गई थी। समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करे, क्या कहे ? बालक को उसीका विगत सुनाकर अच्छा किया या बुरा—यह भी समझ से बाहर था। यूं ही बात-बात में वसुषेण से कह बैठी थीं···"तू मेरा बेटा थोड़े ही है ?···" फिर हंसी थीं, पर गंभीर होकर बालक जिद पकड़ गया—"फिर कौन है मेरी मां ?···मैं किसका बेटा हूं ?···मैं तुम्हारे पास कैसे आया ?"

राधा चुप ! घबराई हुईं। कहां सोचा था कि हंसी में यों ही कही गई बात को इस तरह परत-दर-परत छीलने लगेगा बालक। वह मां के पैरों से लिपटकर झूलने लगा था···प्रश्नों से राधा को हिलाता-कंपाता हुआ !

"बतलाओ ना ?···तुम झूठ कहती हो माता ! मैं तुम्हारा ही पुत्र हूं ! केवल तुम्हारा ! कहो ना कि तुमने झूठ कहा था ?" वह रोने लगा था।

राधा अभी असमंजस में ही थीं कि द्वार की ओर से एक आवाज गूंजी—"पुत्र ! तुम्हारी पोष्या माता ने असत्य नहीं कहा है।···तुम्हें राधा से जन्म नहीं मिला, बल्कि तुम तो किसी महान् राजकुल के अंश हो, वसुषेण ! यह तो मेरा और राधा का कोई पूर्व पुण्य है जो तुम्हारे पुत्रवत् पालन करने का आनंद हमें मिला !"

अधिरथ द्वार पर थे।

वसुषेण स्तब्ध। ऐसे, जैसे किसी पौधे को पाला मार गया हो। चेहरे पर सदा ही दमकने वाला सूर्यवत् तेज सहसा लुप्त हो गया। दृष्टि सूख गए झरने-जैसी। मुसकानों के इन्द्र धनुषी रंग छोड़ते होंठ, गहरे अन्धकार-सा

सन्नाटा ओढ़े हुए।

राधा ने डरकर पति को देखा, फिर पल-भर की देर न करके तुरंत झुकी, बालक को सीने में भरकर बड़बड़ाने लगी—"नहीं-नहीं, मैंने··· मैंने तो यूं ही झूठमूठ कह दिया था बेटे ! मैं ही तेरी माता हूं ! तू मेरा ही पुत्र है ! मैं तो तुझे रुलाना चाहती थी वसु··· !"

अधिरथ आगे बढ़े। उसी तरह कठोर; किन्तु सहज शब्द उनके होठों से बहे—"नहीं, देवी ! यह सत्य वसुषेण को एक-न-एक दिन तो बतलाना ही था ! यह उचित है कि असमय ही सही, पर तुम यह भूल कर बैठीं··· इस भूल के बाद अब दूसरी भूल मत करो ! हम लोगों को पुत्र वसुषेण से अपार स्नेह है, पर हम अपने ही पुत्र से छल तो नहीं कर सकते !"

राधा के आंसू बह रहे थे। पति के गंभीर स्वर ने सहसा शब्दों को थाम दिया था। बालक उसकी गोद से हटकर फिर उसी तरह चुप खड़ा रहा···सिर्फ ठहरीं, खाली निगाहों से क्रमशः अधिरथ और राधा को देखता हुआ···।

अधिरथ बोले थे—"वसुषेण ! तुम अवश्य ही उच्च वर्ण और कुल के अंग हो ! तुम्हारे यशस्वी माता-पिता को समाज-भय ने तुम्हें अपने-आपसे अलग करने पर बाध्य किया होगा ! यही कारण है कि उन्होंने तुम्हें माता गंगा को सौंप दिया।···अब से सात वर्ष पूर्व तुम इसी पुर में अपनी माता को मिले थे···पुण्यमयी गंगा की पवित्र लहरें तुम्हें हम तक लाईं और हमने तुम्हें ईश्वर का पवित्र प्रसाद मानकर पुत्र रूप में ग्रहण किया ! तुमसे हमें अपने पुत्र की अपेक्षा कहीं अधिक स्नेह, सौभाग्य और आनंद मिला है बेटे, पर···पर हम सत्य को छिपाकर; हम दोष के भागी नहीं बनना चाहते ! यह पाप होता, अतः मैंने कह देना ही उचित समझा है !"

बोलते-बोलते सहसा अधिरथ चुप हो रहे। बालक की ठहरी और चुप निगाहों ने दोनों को डरा दिया था। राधा को लगा था कि भीतर-ही-भीतर बदन में कोई चीज गीले कपड़े की तरह निचुड़ने लगी है··· इस भय ने उन्हें काफी कुछ सहमा दिया था कि सत्य की कठोर शिला का प्रहार बालक सह भी सकेगा या नहीं ?

अधिरथ आगे बढ़े। हौले-से वसुषेण का सिर दुलराया। मुलायम

सुनहरी बालों और कपाल की चमड़ी के बीच ममत्व और स्नेह की शीतलता महसूस की बालक ने। मन हुआ था कि जोर-जोर से हिलकियां भर-भरकर रो पड़े। कहे—"यह सब न कहा होता, पूज्य ! इस सत्य के कारण मुझे आहत न करते तो···मेरा जीवन सहज होता; पर अब ?···"

अपने ही प्रति मन विकृति और घृणा से भर उठा था। वह कुलीनों के पाप का परिणाम है।···किसीके पाप-दोष का प्रतीक ! लगा था, जैसे अपने ही शरीर के हर रोम से जन्म देने वाले माता-पिता का शरीर-सम्बन्ध दुर्गंध बनकर बहने लगा है ··यह दुर्गंध स्वयं ही अनुभव कर रहा है वसुषेण ! एक पल के लिए सांस थामकर जबड़े कसे रह गए ! क्रोध उमड़ रहा था···

किस पर है यह क्रोध ?···किसके प्रति ? कैसे व्यक्त होगा ? तय नहीं। इतना तय है कि वसुषेण के भीतर हंसी की शीतल जल-लहरियों की तरह सदा-सदा के लिए क्रोध का अनजान लावा भी बहने लगा है !

किसे झुलसाएगा यह लावा ?···

चीखकर कह देना चाहा था—उन तथाकथित आभिजात्यों और कुलीनों को, जिन्होंने अपने सुखार्थ वसुषेण के शरीर की दुःखमय रचना कर डाली !

पर कौन हैं वे ?···

कहां हैं ?···

कैसे कुलीन और उच्च-वंशीय हैं ?···

कई-कई प्रश्न थे, जो मन-मस्तिष्क से बालक के भीतर उठने लगे। बादलों की तरह···किन्तु उस समय कुछ भी पता नहीं लग सका था !

राधा और अधिरथ चुपचाप बालक को देख रहे थे—शब्द-हीन।

वसुषेण ने देर तक कोई प्रश्न नहीं किया। इस तरह जैसे प्रश्न-भूमि पर पैर जमाये रखने की दुष्कर चेष्टा कर रहा हो। फिर प्रश्न किया। रुखा, मरुथल की तरह सपाट, जलता हुआ प्रश्न—"तब मेरे माता-पिता कौन हैं पितृ ?···"

उत्तर में नकार। सिर्फ एक सांत्वना। ऐसे, जैसे वसुषेण को मरुथल में

मृग-मरीचिका के दर्शन हो रहे हों···ठगते हुए शब्द ! अधिरथ और राधा ने बार-बार यही कहा था—"हम लोग नहीं जानते वसुषेण !···केवल इतना जानते हैं कि तुम्हें माता गंगा की गोद से हमने पाया है। सूर्योदय की ज्योतिमयी किरणों ने ही तुम्हें देवी राधा की गोद में पहुंचाया था···"

वसुषेण पुनः चुप हो रहा। सहसा अधिरथ बोले थे—"आओ तुम्हें तुम्हारे साथ आयीं वस्तुओं के दर्शन कराऊं?" फिर वह उसे दूसरे प्रकोष्ठ में ले गये। एक ओर रखी नौका-जैसी पेटी की ओर संकेत करते हुए कहा था—"पुत्र ! यही है तुम्हारा जल-रथ, जिसमें लेटे हुए तुम गंगा से चम्पानगरी के किनारे आ लगे थे···" और फिर उन्होंने कवच-कुंडलों की ओर ध्यान दिलाया, जो कर्ण के साथ आये थे। वसुषेण इस स्नेह से उन पर हथेली फिराने लगा था, जैसे उनकी अभेद्य धातु की कठोरता में ममता का कोई अदृश्य जल-स्रोत खोज रहा हो···

ममता का अदृश्य जल-स्रोत !

बहुत खोजा है उसे···जीवन के प्रति-पल, प्रति श्वांस के साथ केवल उसे ही खोजते रहे हैं कर्ण ! इस खोज से कभी मुक्ति नहीं मिली ! इस खोज ने कभी खाली नहीं किया।

खोज न पाने के कारण उतना दुःख नहीं मिला था कर्ण को, जितना दुःख खोज लेने के कारण मिला है ! जीवन-रहस्य के उस शिलावत् सत्य पर बचपन के साथ ही जब पहली चोट लगी, तभी वह खोज प्रारंभ हो गयी थी। बहुत चाहा था कि न खोजें। व्यर्थ माथा-पच्ची न करें, किन्तु मन नहीं मानता था। बार-बार उसी पथरीले सत्य से जा टकराता··· लगता कि अपनी ही टकराहट से उठी अपनी ही सिसकनें सुन रहे हैं···इन सिसकियों में प्रश्न···

कौन हैं जन्म देनेवाले माता-पिता ?

बहुत कम आयु थी वसुषेण की। गुण-दोष और पाप-पुण्य का विवेचन करने का निर्णय लेने योग्य आयु नहीं थी, किन्तु सत्य को पा जाने की ऐसी अकुलाहट छिपी थी कि हर देखे-सुने की तह तक उतरने को व्यग्र हो उठने...

वही व्यग्रता, कौतूहल या कि तड़प थी, जिसने खोज की इच्छा को जन्मा !

किस तरह पता लग सकेगा, कैसे जानेंगे—कोई नहीं जानता था, न कोई राह दीखती थी जानने की...इसके बावजूद इच्छा नहीं मरती ! साथियों के साथ खेलते समय भी जैसे यह व्यग्र इच्छा मन के भीतर सांप की तरह सरसराती घूमती रहती ! जरा एकांत मिलता कि वसुषेण के मन में यह सांप फन पटकने लगता—हर बार, केवल एक इच्छा ! एक ही आकांक्षा !

कौन हैं मेरे उच्च कुल-वंशीय माता-पिता ?

स्त्री-पुरुषों और बच्चों की भीड़ से भरे उस पुर में भी एकदम अकेला होकर रह गया था वसुषेण ! उसका खेलना, मिलना-जुलना, गृह-कार्य में माता-पिता को सहयोग करना...सब पूर्ववत् चल रहा था, किन्तु ऐसा हर पल, हर चेष्टा यांत्रिक ! इस यांत्रिकता ने जीवंतता में भी अजब-सा निर्जीवभाव भर रखा था !

अधिरथ और राधा जानते थे कि वसुषेण अपनी उपस्थिति के बावजूद अनुपस्थित है। खिलखिलाने के बावजूद सिसकियां भरता हुआ... अक्सर चेष्टा करते कि वसुषेण का बिखराव समेट लें...बांहों से लेकर दृष्टि, स्वर और शब्दों में ममता का अनंत आकाश बिछा दिया था वसुषेण के ऊपर, किन्तु वसुषेण ? वह ज्यों-का-त्यों !

वसुषेण से कम चिन्तित और व्यग्र नहीं रहते थे राधा और अधिरथ ! यों राधा के अपने पुत्र भी थे, किन्तु वसुषेण उनके लिए सर्वाधिक सुख-सौभाग्य का कारण। वही तो था, जिसने मातृ-सुख के लिए तरसती राधा की गोद में आकर उसे नारीत्व और सुख की सम्पूर्णता प्रदान की ? वही तो था, जिसके बाद अधिरथ और राधा ने संतान-सुख पाया...अतः

वसुषेण उनका सर्वाधिक स्नेहभाजन !

फिर वसुषेण अपने रूप-रंग, स्वभाव, गुण और पौरुष के लिए भी सभी से अलग था। सभी से श्रेष्ठ। एक हद तक अलौकिक-सा। चमत्कार की तरह दैव-रक्षा पाकर जल-यात्रा करता हुआ दूर-दूरंत से वह जीवित चम्पानगरी आ पहुंचा था ! आगे भी अनेक चमत्कार किये थे उसने…

कभी-कभी सोचते थे राधा और अधिरथ। वसुषेण के साथ जितना और जो कुछ अद्भुत जुड़ा हुआ है क्या वह सचमुच अलौकिक है ? या मात्र संयोग ?

सोचना चाहते थे कि संयोग है…पर कितनी-कितनी बातें थीं; जो संयोग होते हुए भी संयोग-जैसी नहीं लगती थीं। इतनी अविश्वसनीयता से भरी हुई !

बहुत छोटा था, तभी से अविश्वसनीय संयोगों से भरे चमत्कारों का कारण बन गया था वह !

भोर के साथ ही नदी किनारे आ जाया करता था वसुषेण। गांव में उस समय तक पूरी तरह जागरण भी नहीं हो पाता था। पहले-पहले दिन जब इसी तरह घर से निकलकर नदी किनारे जा पहुंचा, तब समूचे गांव में हड़बड़ी फैल गयी थी—कहां गया राधा-पुत्र ?

कई लोग उसे ढूंढ़ते-भटकते गंगा किनारे पहुंचे। बालक वसुषेण एकदम किनारे के पास बैठा हुआ टकटकी बांधें हुए पूर्व दिशा की ओर देख रहा था···उस तरफ, जिधर से सूर्य उग रहे थे···पल के हर हजारवें हिस्से में ज्योति का एक समुद्र पृथ्वी पर उंडेलते हुए—तेजस्वी सूर्य !

वे सब वसुषेण को घेरकर खड़े हो रहे। जितने चकित, उतने ही हतप्रभ ! विचित्र है अधिरथ का यह पौष्यपुत्र ? सूर्य की किरणों को पलकों के भीतर इस तरह संजोता हुआ जैसे किसी उद्यान से फूल चुन रहा हो ! असहज क्रिया पर इतना सहज ? विश्वास नहीं हो रहा था बहुतों को !

पर बहुतेक थे जिन्हें विश्वास था कि राधेय अद्भुत ही है ! उन्होंने उसका गंगा से आकर राधा और अधिरथ को मिलने का दृश्य भी देखा था, वे कवच-कुंडल भी देखे थे, जो वसु रूप में बालक के साथ राधा और अधिरथ को प्राप्त हुए ! बालक अज्ञात कुल-शील का भले ही हो; किन्तु उसका रूप, तेज, व्यवहार, स्वर—सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रमाण थे—किन्हीं तेजस्वी माता-पिता की संतति है !

उस पहले दिन, बालक के सहसा गुम जाने से व्याकुल हो उठी ममतामयी राधा ने बांहों में भरते ही बार-बार उसे चूमा था, स्नेह किया था, बड़बड़ाती रही थीं—"दुष्ट ! तू ने इतना दुःखी किया मुझे ? कितनी घबरा गई थी मैं ? हूं ?···हूं ?···" वह हंस भी रही थीं, आंसू भी बह रहे थे···घरघराती आवाज में न जाने क्या कुछ बड़बड़ाती ही चली गई थीं।

और उसके बाद यह सब नियमित हो गया था उनके बीच। आए दिन, बालक इसी तरह सूर्योदय के कुछ पूर्व, राधा की गोद से सरककर नदी किनारे जा पहुंचता, सूर्य की किरणों को अपनी दृष्टि से पीता हुआ मुग्ध भाव से बैठा रहता···कुछ दिनों तक हड़बड़ी होती रही थी, फिर प्रतिदिन का नियम बन गया था।

सुबह-सबेरे जब राधा की आंख खुलती और वह अपने करीब बालक को न पातीं तब निश्चिन्त भाव से गंगा किनारे बैठे वसुषेण को कल्पना में देख लेतीं···यह डर डूब चुका था कि वसुषेण सूर्य-दर्शन के लिए गंगा किनारे के अतिरिक्त कहीं और हो सकता है ? कुछ ही दिनों के भीतर गंगातट वसुषेण का क्रीड़ास्थल बन गया। पुर के सभी बालक वहां एकत्र हो जाते—खेलते रहते। नियमतः सबसे पहले वसुषेण गंगा-तट पर पहुंचा करता। वय की बढ़त के साथ-साथ उसकी सूर्य-दर्शन की क्रिया में एक परिवर्तन हो गया था। उसने अब सूर्य की उपासना, अर्घ्यदान और गायत्री मंत्र का नियमित जाप प्रारंभ कर दिया था···ध्यानस्थ होकर वह उस समय तक सूर्याराधन में व्यस्त रहता, जब तक कि उसकी पीठ तप न जाती···चमकता गोरा रंग सुनहरीपन न ले लेता···वसुषेण ही था जो सौभाग्य की तरह राधा की बांहों में आया था। अपने बाद अपने भाइयों का क्रम बनाता हुआ···

ऐसा विलक्षण वसुषेण !

और वही वसुषेण अपना अपने जन्म-सत्य की कथा का एक अंश जानकर, अपने ही भीतर सहसा लोप हो रहा ! उसके प्रश्नों से अनायास ही सरलता गुम हो गई थी··· उसके उत्तर उसकी बाल्यावस्था के विपरीत जटिल व्यंग्य बनने लगे थे। लगता था कि जब-जब राधा और अधिरथ

या किसी बड़ी आयु वाले से वसुषेण बात करता है, तब-तब अविश्वसनीय रूप से अकल्पित-सी बातें पूछ बैठता है। बात-ही-बात में एक बार राधा से प्रश्न कर बैठा था—"मुझे अब भी विश्वास नहीं होता—क्या सच ही कोई माता अपने शिशु को इस तरह त्याग सकती है, जैसे मेरी माता ने मुझे त्यागा है?"

राधा चौंक गईं। डरकर बेटे को देखा फिर बात टालने के लिए बोली थीं—"यह···यह सब तुझे कौन बताता है? यह बातें तेरे विचार के योग्य नहीं हैं वसुषेण!" वहां से उठकर वह दूसरे कक्ष की ओर बढ़ गई थीं। घबराहट और चिन्ता ने श्वांस की गति बढ़ा दी। लग रहा था जैसे वसुषेण आंधी की तरह उन्हें झकझोर रहा है।

"बताओ न, माता?" वह पीछे-पीछे चलता गया था, "कोई मां वैसा कर सकती है?"

"मुझे नहीं मालूम!" राधा ने झुंझलाकर उत्तर दिया था, "व्यर्थ की बातें करके मुझे कष्ट न दिया कर।"

"पर मां···!"

सहसा क्रोध से भरकर वसुषेण को देखा था राधा ने। बालक सहम गया। रुआंसे होकर उत्तर दिया था—"क्रोध मत करो, मां! तुम्हें देखता हूं तब यही प्रश्न मन में आता है। भला तुम मुझे नदी में बहा सकती हो?"

क्रोध राधा के चेहरे से धुल गया। उसकी जगह अचानक पीड़ा उभर आई। जैसे-तैसे मन में उमड़ आई पीड़ा थामकर वसुषेण को छाती से लगा लिया। बड़बड़ाने लगी थीं—"ये कैसी बातें करता है वृष? भला कोई माता अपने पुत्र को कैसे बहा सकती है?···" आगे भी कुछ कहतीं किन्तु वसुषेण ने बड़ी सरलता से बात काट दी—"इसीलिए तो सोचकर चकित होता हूं मां कि वह स्त्री कैसी होगी जिसने मुझे जन्म देते ही जल में बहा दिया? मेरी माता कैसे हो सकती हैं?"

और राधा पुनः निरुत्तर···वार्ता का सारा विषय टाल देना चाहती थीं, स्वयं भी वहां से टल जाना चाहती थीं; किन्तु लगा कि असंभव हो उठा है···विचित्र स्थिति थी! न तो विषय टाल पाना संभव, न स्वयं

ही टल पाना संभव। और वसुषेण तरह-तरह से एक ही बात को बार-बार दोहराता हुआ···बुदबुदाया था—"मैंने···मैंने एक निष्कर्ष निकाला है माता !"

घबराकर राधा ने पूछा, "क्या ?"

"यह कि···कि वह घटना झूठ है !" विश्वासपूर्ण स्वर में वसुषेण कहे गया था—"यह झूठ है कि मैं तुम्हारे अतिरिक्त किसी का पुत्र हूं। मैं तुम्हारा ही पुत्र हूं···तुम्हारा और पितृ अधिरथ का पुत्र ! तुम सब मुझे यूं ही डराते रहते हो !"

अब नहीं थम सकी थीं राधा। आंसू वह आये···हथेलियां कांपीं···लगा कि अथाह जल की गहराइयों में डूब जाने के भय से यूं ही हाथ-पांव मार रही हैं। वसुषेण की वज्रपीठ पर हाथ सहलाते हुए जोर-जोर से कह उठी थीं—"हां···हां, सत्य यही है वसु ! तू मेरा ही पुत्र है !···तू केवल मेरा पुत्र है !"

यही शब्द, इसी तरह कितनी बार दोहराये-बड़बड़ाये—याद नहीं। बस, इतना याद रहा है कि कुछ समय बाद उत्साहित होकर वह उनकी जकड़ से आजाद हो गया था। जोर-जोर से हंसता-खिलखिलाता, उत्साह और आनंद की सुगंध बिखेरता हुआ घर से बाहर चला गया।

किन्तु जानती थीं राधा। बहुत समय नहीं रह सकेगा वसुषेण का यह उत्साह और सुख···थोड़ी देर बाद फिर वह उसी पुराने प्रश्न-सत्य को लिए हुए किन्हीं और शब्दों में और तरह सामने आ खड़ा होगा···पल भर के लिए मन जिस सुख-छाया में आ खड़ा होता था, तुरंत पीड़ा की तपन झेलता हुआ मरुस्थल में जा पहुंचता।

स्वयं कर्ण के साथ भी तो आनंद और पीड़ा की कुछ ऐसी ही लुका-

छिपी चल रही थी ? विचित्र-सी लड़ाई ! अपने ही भीतर, अपने ही ऊपर चलते प्रश्नों के मारक हथियार ! अपने ही भीतर की जानेवाली स्वयं के बचाव की चेष्टाएं !

रथ अब कुरुक्षेत्र युद्ध में बने कर्ण के शिविर के पास जा पहुंचा था··· घोड़ों की टापें वातावरण के सन्नाटे के थप्पड़ मारती हुईं···

तब के सन्नाटों को न तो घोड़े की टापें रौंदती थीं, न ही कोई एकांत प्रातः और रात्रि का भेद किया करता था ! वसुषेण अपनी ही जन्म-कथा के सत्य से मर्माहत हुआ कभी राधा और कभी अधिरथ की ममता और दुलार से घायल अपनी आत्मा का थोड़ी देर उपचार पाता, शान्ति मिलती और फिर मन में कोई मारक प्रश्न उठता···आत्मा को दूर तक लहूलुहान कर जाता !

कर्ण का युद्ध पुनः प्रारंभ हो जाता !

आयु के हर बढ़ते वर्ष चरण के साथ वसुषेण कुछ अधिक ही मर्माहत होने और सोचने लगा था····"कौन हैं तेरे माता-पिता ? किनका वीर्यांश है तू ?" मानस के ऊंचे अदृश्य गुम्बदों से प्रश्न उठता, गूंजता हुआ आत्मा की अनंत गहराइयों तक जा पहुंचता !

चम्पानगरी के जन-समाज में रहकर भी वसुषेण अकेला हो गया था। केवल वह और उसका प्रश्न !

प्रश्न और एकांत।

गंगा-तीर पर खड़ा हुआ दूर-दूर तक व्यर्थ ही दृष्टि दौड़ाता रहता। किसी बार आखेट के बहाने जंगलों में निकल जाता। प्रश्न मन से उलीच-कर कितनी ही बार प्रकृति के नाम उछाला···कहीं, किसी कोने से कोई अदृश्य आकाशवाणी हो और वसु को उत्तर मिल जाए कि कौन हैं उसके जन्मदाता ?

पर दिन, माह और बरस बीतते गए···प्रश्न उत्तरहीन रहा। इस उत्तरहीनता ने उसे एकांतप्रियता दी। एकांतप्रियता थी या समाज दृष्टियों से चोरी—वह नहीं जानता; किन्तु अच्छा लगता कि सन्नाटों में अकेले, व्यर्थ ही बैठे रहकर चुपचाप यहां-वहां दृष्टि दौड़ाते रहो···तब तक, जब तक कि मन-शरीर हार कर बेसुध नींद से न जुड़ने लगें !

अधिरथ और राधा चिन्तित रहते थे। बालक बहुत एकांतप्रिय हुआ जाता है। यह न उसके लिए शुभ, न उनके लिए शुभ। पर क्या कर सकते हैं, क्या कहा जा सकता है? राह नहीं सूझती थी।

वसुषेण का जीवन-क्रम ज्यों-का-त्यों! सबके बीच रहकर भी सबसे कटा हुआ। सबसे जुड़कर भी सबसे अकेला!

माता राधा के प्रति कुछ अधिक ही झुकाव था वसुषेण के मन में अतः अधिरथ ने कहा था—"तुम ही कुछ करो, देवी! वसुषेण को समझाओ, जीवन इस तरह नष्ट करने की वस्तु नहीं!"

राधा बोली नहीं थीं हालांकि मन हुआ था, पति से कह दें—"वसुषेण जैसी पीड़ा भोग रहा है, उस पीड़ा ने उसके जीवन की अर्थवत्ता ही नष्ट कर दी लगती है!

अधिरथ कहे गए—"कल की बात है, राधे! वसुषेण ने खेलते-खेलते ही सहसा झगड़ा कर लिया। सुधर्मा और अन्य बच्चों को बहुत मारा, अपशब्द भी कहे! यह सब उचित नहीं हैं।"

राधा फिर भी चुप। उस समय भी कह देना चाहती थीं कि उचित ही किया उसने! सुधर्मा और उसके साथियों ने क्या कुछ किया था—राधा को सन्ध्या समय ही मालूम हो गया था···बहुत आहत हुईं। उससे कहीं अधिक क्रोध आया था उन्हें। पड़ोस की एक महिला से सूचना मिली थी—"सुधर्मा ने वसु को 'अज्ञात कुलशील' कह दिया···और फिर···" राधा को लगा था कि उस महिला द्वारा दिया गया विवरण अब भी उनके कानों में गूंज रहा है···महिला ने आगे बतलाया था कि किस अद्भुत और अविश्वसनीय शक्ति के साथ वसुषेण एक साथ बहुत से बच्चों पर टूट पड़ा। एकसाथ होकर भी वे उसके प्रहार झेल नहीं सके थे। इधर-उधर भागने लगे! वसुषेण देर तक चीखता-गरजता रहा था, फिर चुपचाप गंगा किनारे जा बैठा!

अधिरथ बोले—"आज ही वसु से बात करो, राधा! वह नगरवासियों के लिए भय का कारण बनता जा रहा है! हम समाज में रहते हैं और समाज शुभ के लिए बहुत कुछ असहनीय भी किसी एक व्यक्ति या परिवार को सहना पड़ता है—समझाओ उसे! मुझे पूरा विश्वास है

यदि तुम कहोगी, तो वह अवश्य ही संभल जाएगा।"

कह-सुनकर पति चले गए ! राधा चिन्तित हो उठीं। इस बात की चिन्ता नहीं थी कि वसु को किस तरह समझाएंगी—चिन्ता इस बात की थी कि वसुषेण को इस समाज-जीवन के बीच ही अपना स्थान बनाना है · कैसे बना सकेगा ? भला राधा और अधिरथ का स्नेह या ममता उसकी अज्ञात कुल-शीलता को तो अर्थ दे नहीं सकेंगे ?

तब ?

बहुत सोचा, फिर एक राह खोज निकाली। वसुषेण के आते ही योजनाबद्ध ढंग से बात करेंगी···इस तरह कि उसकी पीड़ा जो अनियंत्रित होकर समाजनाश का कारण बन सकती है—प्रेरणा-शक्ति बनकर उसे सर्वप्रिय बना दे !

शिविर में प्रवेश से पूर्व—

अश्व से उतरे ही थे कि सेवक सामने आ खड़ा हुआ। अश्व को ज्यों-का-त्यों छोड़ा और द्वार की ओर बढ़े।

प्रहरी सतर्क हुए। मखमली परदा उठाकर कर्ण भीतर जा पहुंचे। सेवक लपका हुआ आया।

कर्ण शिलावत् शांत खड़े रहे। शब्दहीन ! सेवक, अंगराज की सैनिक वेश-भूषा, अस्त्र-शस्त्र आदि उतारने लगे।

थोड़ी देर बाद कर्ण भव्य पलंग पर बैठ गए। मन अब भी विगत जीवन के घटाटोप अन्धेरे जंगल में कुलांचें भरता हुआ···हर कुलांच एक घटना, हर घटना पीड़ा की कोई-न-कोई कहानी कहती हुई। किसी बार मन पर आया घाव···और किसी बार उस घाव पर लगाया गया मरहम !

कर्ण के विरुद्ध अज्ञात कुल-शीलता का अदृश्य अस्त्र इस समाज के हर

व्यक्ति के पास हमेशा ही रहा···जिसने चाहा, पल भर में पराक्रमी कर्ण पर चलाया—उन्हें बुरी तरह आहत कर डाला ! उन कर्ण को, जिन्हें अविजेय माना जाता रहा ! उस प्रतिसूर्य को, जिसके सामने अन्धकार सदा ही गिड़गिड़ाया ! बल, पराक्रम, शक्ति, सामर्थ्य, व्यक्तित्व और पौरुष सभी दृष्टि से अप्रतिम और बेजोड़ रहे, कर्ण के पास अद्‌भुत और अविश्वसनीय शक्तियों-अस्त्रों का भांडार है ! पर इस भांडार की कोई शक्ति, कोई अस्त्र, समाज के हाथों में थमे उस अदृश्य अस्त्र का उत्तर नहीं बन सके हैं, जो सदा सबके हाथ रहा !

कर्ण की 'अज्ञात कुल-शीलता'···।

जब-जब इस अस्त्र से कर्ण का सामना हुआ है, तब-तब कर्ण हार गए हैं ! थक गए हैं या फिर कायर की भांति सामाजिक रणक्षेत्र से भागे हैं !

स्मरण भर से आहत हो जाते हैं वह। इस पल भी हुए ! सहसा लगा था कि बुरी तरह थक गए हैं। लेट रहे।

शिविर के सपाट परदे पर दृष्टि ठहरा दी—एकदम स्थिर।

कुरुक्षेत्र समर में आहत हुए दोनों ही पक्षों के सैनिकों, रथियों और महारथियों की मृत्युपूर्व वेदना से भरी कराहें अब भी गूंज रही थीं। बीच-बीच में पशुओं के चीखते, गुरगुराने या चिंघाड़ने के शब्द !

किन्तु कुछ भी नहीं सुन पाए। सुनी थीं सिर्फ विगत की आवाजें··· महाभारत के असंख्य पात्रों, व्यक्तियों और घटनाओं के बीच कही, सुनी या सुनाई गई बातें !

लगा था कि पर्दे पर झिलमिलाकर कई-कई घटनाएं और उनके पल सजीव होने लगे हैं·· प्रतिदिन की तरह उस दिन भी खूब रात गए घर लौटे थे कर्ण ! जानते थे कि पितृ अधिरथ सो चुके होंगे। भाई शत्रुन्तप और वृकरथ भी दिन भर खेल-थककर नींद में गुम होंगे···वसुषेण के लिए यदि कोई जाग रहा होगा तो केवल माता राधा ! हर दिन ही सोचते थे कि समय से घर लौटा करेंगे, पर कभी नहीं हो पाता था। अपने आपसे अपना जन्म खो जाने का कष्ट सूर्योदय के साथ प्रारम्भ होता और सूर्यास्त के साथ मन में गहरा हो जाता···सब कुछ भूल-भालकर यहां-वहां खोए रहते···रात को लौटते समय याद आता था—माता राधा प्रतीक्षा में

सोई नहीं होंगी !

बहुत कष्ट होता ! यह सोचकर अधिक ही कष्ट होता कि वसुषेण अपनी पौष्या माता को कितना दुःख दे रहा है !

•

घर में कदम रखते ही इस अहसास ने मन को भारी कर दिया था कि वसु, माता के लिए कष्ट का कारण बने हैं···प्रति दिन बनते हैं ! अपराध-बोध से गर्दन झुक गई थी—ठीक उसी तरह जिस तरह रोज झुक जाती थी।

भोजन-कक्ष की ओर अभी कदम बढ़ाएंगे कि माता का स्वर उभरेगा, "आ वसुषेण ! मैं तो कब से तेरी राह देख रही थी बेटा ?'

और वसुषेण को लगेगा कि ममता ने एक थप्पड़ मार दिया है—वसु की उद्दण्डता पर !

वही हुआ।

भोजन-कक्ष की देहरी पर पहला चरण रखा ही था कि स्वर उभरा—"आ, वसुषेण ! कहां रह गया था अब तक ?"

छटपटा उठा था वसुषेण ! स्वर विद्रोही होकर मन से भटके हुए। लज्जा आई। सिर झुकाकर चुप रह गया। लगा कि लज्जित नहीं हुआ, निर्लज्ज हो गया है ! एक स्वरहीन धिक्कार बदन के रोम-रोम में भर गया।

माता ने रोज की तरह भोजन का थाल सजाया और आसन पर सिर झुकाए बैठे पुत्र के सामने ला रखा। बहुत मीठी और मधुर आवाज में कहा, "ले खा ! फिर मैं तुझसे कुछ कहना चाहती हूं वसु !"

यांत्रिक ढंग से हाथ ग्रास बनाने बढ़ा था, किन्तु थम गया—"तो··· तो कहो न मां ? क्या आज्ञा है ?"

"अभी नहीं।" राधा बोलीं—"पहले भोजन कर ले, फिर कहूंगी !"

वसुषेण उतावला हो गया, फिर जिद की थी कि कहें, पर राधा ने स्वर में आदेश भरकर कहा—"नहीं, पहले भोजन !"

वसुषेण ठीक तरह भोजन नहीं कर सका। ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि माता इस गम्भीरता से कुछ कहने के लिए व्यग्र और प्रतीक्षित हों ? राधा से कहीं अधिक ही सुनने के लिए व्यग्र हो उठा था वह··· एक राधा ही तो थीं जिनके पास उसे खालीपन महसूस नहीं होता, अन्यथा प्रतिपल वसुषेण खाली ! सब कुछ पाकर भी सब कुछ खोए हुए-सा।

भोजन से जल्दी ही निवृत हो लिया तो चकित हुई थीं राधा। कहा भी था—"अरे, तूने ठीक तरह भोजन···" और बात काटकर वसु ने उत्तर दे दिया था, "आज ठीक तरह भूख भी नहीं लगी, मां !"

बात खत्म हो गई। हाथ पोंछकर वसुषेण माता के सामने आ बैठा, "हां, अब कहो, मां—क्या आज्ञा है ?"

कुछ पल टकटकी बांधे हुए राधा देखती रहीं थीं उसे। गठे बदन और शक्ति से ज्योतिमय दृष्टि वाले वसुषेण को पुरवासियों की दृष्टि अपनी-अपनी तरह या तो चकित भाव से देखती थीं या फिर ईर्ष्या से···उसके तेज और गांभीर्य को लेकर चर्चाएं की जातीं···क्षमता पर आश्चर्य व्यक्त किया जाता था। कभी-कभी उसे लेकर लोगों को आतंक भी अनुभव होता ! पर राधा को वह सब अच्छा लगता ! क्यों न लगता—वसुषेण उसका पुत्र जो था !

वसुषेण, माता की आंखों में देख रहा था···दृष्टि बार-बार पूछती हुई—"क्या कहना चाहती हो मां ? कहो न !"

राधा ने एक गहरा श्वांस लिया। बोलीं—"पुत्र ! मैं जो कुछ कहूं, उस पर तुम गम्भीरता से विचार कर सकोगे—इसका मुझे विश्वास है, इसीलिए कह भी रही हूं···"

कर्ण चकित। दृष्टि मां पर टिकी हुई। दृष्टि में वही कुरेदन।

राधा के स्वर में जितनी ममता थी, उतनी ही गंभीरता। ऐसे, जैसे गंगा बह रही हों, शान्त, गहरी और दृष्टि के पार तक फैली हुई···अछोर ! कहा था, "वसु ! मुझे ज्ञात हो चुका है कि सुधर्मा ने तुझसे कहा था···पर

मुझे उसके वह सब कहने पर जितना आश्चर्य नहीं हुआ उतना तेरी प्रतिक्रिया जानकर हुआ है !" आगे कुछ कह सकें, इसके पूर्व ही वसुषेण व्यग्र होकर बोल पड़ा था—"पर माता, वे सब मुझे अज्ञात कुल-शील बालक कह रहे थे···तुम ही सोचो यह अपमान मैं कैसे सहता ?" बात समाप्त करते-न-करते वसुषेण के बहुत चाहने पर भी उसका अपना स्वर संयत नहीं रहा—भारी हो गया ··ऐसे, जैसे सील हो गया हो ! पीड़ा के जल से सना हुआ !

"वह भी जानती हूं···" राधा ने वसुषेण से इस तरह कहा जैसे उसकी समूची सीलन अपने भीतर उतार ली हो। बोली --"वही सब जानकर तुझसे वह सब कहना चाहती हूं, जिसे अब तब अपने हृदय में दबाए रही···"

"क्या—क्या तुम जानती हो मां कि मैं किसका पुत्र हूं···कौन हैं मेरे प्रतापी पिता ? मेरी माता ?" हर्षावेग में वसुषेण ने माता की बांहें थाम ली थीं।

राधा ने हौले से उसका माथा दुलराया। बोलीं—"वह सब तो मैं नहीं जानती पुत्र, किन्तु जो कुछ जानती हूं—वह तुम जान सको तो तुम्हारा कष्ट दूर हो जाएगा ! वे सारे प्रश्न समाप्त हो जाएंगे जो आज तुम्हें कष्ट पहुंचा रहे हैं···"

वसुषेण का चेहरा बुझ गया। शरीर ढीला। सिर झुकाकर चुपचाप बैठा रहा।

"सुनो ?" राधा ने बात आगे बढ़ाई—"कुल—मनुष्य के शील से पहचाना जाता है वसुषेण ! जो लोग अपनी अक्षय कीर्ति सृष्टि-पटल पर अंकित कर देते हैं, वही उनका कुल, वंश और कुलीनता होती है ! यदि तुम्हारे माता-पिता कुलीन होंगे तो उनकी अपनी गुणवत्ता से होंगे या फिर उनके कुलपुरुषों में किसी ने वैसी कीर्ति अर्जित की होगी जो अगली पीढ़ियों में उनकी कुलीनता कहलाई ! प्रत्येक कुल एक-न-एक दिन कहीं से प्रारम्भ होता है, कोई उसे प्रारम्भ करता है ! संभवतः ईश्वर ने तुम्हें इसीलिए जन्म दिया है कि तुम अपना कुल स्वयं प्रारम्भ करो ! तुम्हारे गुण-ज्ञान और शक्ति की कीर्ति से एक पहचान बने जो कुलीनता

कहलाए !"

वसुषेण ने सुना···बहुत कुछ समझा । हर सोच मन से हटाकर सिर्फ माता के शब्दार्थों में खोजीभाव से घूमता रहा ।

राधा कहती गई थीं—"तुम दैवीय गुणों से सम्पन्न हो वत्स—तुम्हारा बलिष्ठ शरीर, व्यक्तित्व और शक्ति ही तुम्हारे कुल और परिचय हैं ! अपने गुणों और शक्ति-साधना से इन सबको अर्थ दो वसुषेण ! साधारणों की इस बड़ी भीड़ में तुम्हारी असाधारणता उन सब समाज-प्रश्नों का उत्तर बन जाएगी जो आज तुम्हें आहत करते हैं ! यदि तुम ऐसा कर सके तो मैं भी गौरवान्वित होऊंगी और तुम्हारे पितृ अधिरथ भी। मेरा मन कहता है वसुषेण, तुम समर्थ हो ! यह सब करना तुम्हारे लिए तनिक भी कठिन नहीं है !"

"सच माता क्या ऐसा हो सकता है ?" वसुषेण ने आश्चर्य से भरकर प्रश्न किया था—"मैं तुम्हारा और महाराज अधिरथ का पुत्र यह सब कर सकता हूं ? मेरे लिए यह संभव है ?"

"मनुष्य के लिए असंभव कुछ भी नहीं होता बेटे !" राधा ने उत्तर दिया था—"कर्म के प्रति केवल आस्था और समर्पण चाहिए ! देव उसी पर कृपा करते हैं ।"

"···तो मैं क्या करूं माता ? किस तरह इन समाज-प्रश्नों का उत्तर बनूं ?" वसुषेण सब कुछ बिसराकर अतिरिक्त रूप से उत्साहित हो उठा था !

"पराक्रमी बनो ! दानी कहलाओ ! शरीर-सीमा से आगे बढ़कर अपनी कीर्ति से अमर होओ !" राधा ने कहा और कर्ण के चरणों में सिर झुका दिया था—"मुझे आशीष दो मां कि मैं यह सब कर सकूं !" उसकी आवाज भर आई थी। उत्तर में राधा ने शब्द न कहकर केवल कांपती हथेली जोर-जोर से पुत्र के सिर पर इस तरह घुमाई जैसे केवल आशीष ही नहीं दिया हो अपितु शक्ति का संचार कर दिया हो—विद्युत किरणों की तरह एक प्रेरणा को मानस-प्रवेश करा दिया हो !

इस तरह···

सूर्योदय के साथ ही एक नये वसुषेण का जन्म हुआ था···वह जिसे

एक नहीं अनेकानेक कीर्ति कथाएं धरती की छाती पर लिख देनी थीं ! उन कथाओं से अपनी अज्ञात कुल-शीलता को ज्ञात बना देना था ! अपने ऊपर आ गिरे प्रत्येक समाज-प्रश्न के अन्धकार को सूर्य की किरणों से उलीचकर स्वयं से इतनी दूर फेंक देना था कि वह कभी किसी सूर्यपुत्र के के सामने आने का दुस्साहस न करे !

कितना कर पाए ? कितनी सूर्य किरणें उलीच सके ?

लगा था कि बहुत किया। हर बार यही लगता था।

शक्ति और पराक्रम की एक नहीं अनेक कथाएं लिखता रहा वसुषेण चम्पानगरी ही नहीं, दूर-दूर तक चर्चित होने लगा था। आयु के हर बढ़ते चरण ने वसुषेण के पराक्रम, दुःसह शक्ति और अद्भुत रण-कौशल की कहानियां अंग-देश और बाहर तक बिखरानी प्रारम्भ कर दी थीं···

हर एकांत इस इच्छाशक्ति ने भर दिया था कि वह अपने कुल-शील के इतिहास-लेखक स्वयं बनेंगे !

इस इतिहास लेखन में दैव भी कम सहायक नहीं रहा। सच ही कहा था माता राधा ने। कर्म के प्रति आस्था और समर्पण के साथ सदा ही देवाशीष रहता है ! इस सत्य को उसी पल समझ लिया था जब चम्पा-नगरी को पहली बार चकित किया ! उस व्यक्तित्व को सार्थकतावादी, जिसे लेकर पुरवासी सदा ही कहते आए थे—"अज्ञात कुल-शील भले ही हो किन्तु वसुषेण का शरीर, तेज और व्यक्तित्व प्रमाण हैं कि वह किन्हीं पराक्रमी पिता का अंश है !"

निस्सन्देह अंश ! स्वयं भी यही लगा था वसुषेण को ! भोर हुए, सदा की तरह माता गंगा के किनारे पहुंचकर सूर्य-नमन् कर रहे थे वह—तभी पुर-क्षेत्र से स्वर उठे।

ध्यानस्थ वसुषेण का बदन तप चुका था। सूर्योदय के साथ ही प्रतिपल तेजमान होता हुआ प्रकाश ! ज्योति-किरणों ने आंखें मूंदे हुए वसुषेण की समूची देह तपा डाली थी !

पुरक्षेत्र से उभर रहे स्वर सहसा चीत्कारों में बदले ! फिर चीत्कारें कराहों में ! महिलाओं और बच्चों की भयाक्रांत पुकारों ने वसुषेण का ध्यान तोड़ दिया। एकदम मुड़े !

सुधर्मा और छोटा भाई शत्रुन्तप दौड़े चले आ रहे थे—"भइया ! भइया ?" वे वसुषेण के पास आते-आते पसीने से लथपथ लगभग भहराकर धरती पर गिर पड़े। हांफते हुए उन्होंने बतलाया था कि पुरक्षेत्र में एक मदमस्त वृष (सांड) घुस आया है। उसने अनेक स्त्री-पुरुष घायल कर दिए हैं ! उस दैत्यवत् विशालाकार वृष पर न तो प्रहार असर कर रहे हैं, न कोई शक्ति उसे थाम पा रही है ! नर-संहार के साथ-साथ वह फसलों और घरों को भी चौपट किए डाल रहा है। नगरवासी 'यहां-वहां भाग रहे हैं···

वसुषेण ने सुना। जबड़े कसे। कहा, 'आओ मेरे साथ !" फिर लपक पड़ पुर की ओर। पीछे-पीछे दौड़ते, उन्हें रोकने का प्रयत्न करते शत्रुन्तप और सुधर्मा ! चेतावनियां देते हुए—"रुको भइया ! वह भयानक वृष है ! प्रेतवत् शक्तिशाली !"

"भइया ! वसुषेण !" जोर से चीखा था शत्रुन्तप, किन्तु उस समय तक वसुषेण उस ओर बढ़ चुके थे, जिस ओर मदमस्त वृष जन-धन के नाश में लगा था। वह हांफ रहा था। मुख से फेन गिराता हुआ। उसकी आंखें सुर्ख थीं और सींग भयानक रूप से तीखे—

पुरवासी चीखे···यहां-वहां घरों के खिड़की दरवाजों में घुसे हुए कई लोगों ने "वसुषेण ! रुको ! राधेय ?" कई-कई तरह पुकारा, किन्तु फिर एकदम से चुप्पी फैल गई।

आतंक, भय और आशंका से भरी चुप्पी ! ऐसे, जैसे मृत्यु बरस पड़ी हो पुरक्षेत्र पर ! हतप्रभ अवाक् खड़े सब असहाय भाव से मृत्यु के दर्शन कर रहे थे। वीभत्स और रोंगटे खड़े कर देनेवाले दर्शन !

वसुषेण आंधी की तरह आगे बढ़ा था···फिर झोंके की तरह उसका

समूचा शरीर डकराते हुए सांड के माथे पर जा लगा !

वृष जोर से हुंकारा ! तूफान की तरह उसने सिर हिलाया-उछाला, पर सहसा लड़खड़ा गया ! वसुषेण को अपने से दूर तो उछाल दिया था उसने; किन्तु उछालने के इस प्रयत्न में स्वयं भी बहुत पीछे हटता चला गया था !

क्रुद्ध वृष ने खुरों से धरती खूंद डाली…कुछ कदम पीछे हटा फिर जोरों से धरती पर जा गिरे वसुषेण की तरफ लपका ! गांव-घरों से अनेक चीत्कार एकसाथ उठे। भयग्रस्त, फटी आवाजें।

पर वृष सेवा के लिए सब दृष्टि से ओझल और कानों से परे ! वृष जैसे ही उसकी ओर आया, वह फिर वायु गति से ही उठा और वज्र की तरह वृष के माथे से जा टकराया। उसकी बलिष्ठ भुजाओं में सर्प की तरह बल पड़े और परिणाम में अगले ही क्षण मदमस्त वृष जोरों से चिंघाड़ने और डकराने लगा। वसुषेण ने दोनों मुट्ठियों में उसके कराल सींग पकड़ लिए थे और इस जोर से झटके दे रहा था जैसे किसी हाथी की सूंड में वृक्ष की बड़ी डाल आ गयी हो और वह उसे झकझोर-झकझोर कर तोड़ डालना चाहता हो ! हर झटके के साथ वृष बुरी तरह लड़खड़ाता, हुंकारता और चीत्कार कर उठता… उसके सींग जड़ से हिलने लगे थे। आंखें भयग्रस्त हो कर फैलने लगी थीं।

भयभीत पुरवासियों के मुंह खुले रह गये ! क्या वह सब विश्वसनीय है जो वे देख रहे हैं…मानवीय—किन्तु घोर अमानवीय कृत्य से पूर्ण !

सहसा वसुषेण जोरों से हुंकारा…यह हुंकार वृष से कहीं अधिक भयंकर थी और उससे भी भयंकर था उसका वह वेग जिसके साथ ही वसुषेण ने उसके दोनों सींगों को हिलाया था। सांड़ की गरदन जोरों से हिली, फिर हांफा, थरथराने लगा। अब उसका वेग खत्म हो चुका था—गरदन टूट गयी थी !

गहरा श्वांस खींचकर वसुषेण एक ओर खड़ा हो रहा…लोग देख रहे थे। वृष के मुंह से फेन के साथ-साथ अब लहू भी रिसने लगा था…आंखें फट चुकी थीं—गरदन लटकी हुई…समूचा शरीर धीमे-धीमे गतिहीन होता हुआ…और अंत में वह अर्राकर धरती पर गिर पड़ा…

'फुं-प्फूं···फुंह् ··' की देर तक ध्वनियां उछलती-बिखरती रहीं, फिर सांड की आंखें खुली ही रह गयीं।

पुरवासी सहज हुए···एक बार फिर से आंखों पर विश्वास कर लेना चाहा था—क्या सच ही वसुषेण जीवित हैं। और वृष मृत ?

सभी उस ओर लपक पड़े थे। कुछ लोग मृत वृष का घेरा बनाकर खड़े आश्चर्य से उसे देख रहे थे और कई वसुषेण को घेरे हुए। वसुषेण का बदन पसीने से नहाया हुआ था···वृष से घमासान युद्ध के कारण बदन पर अनेक जगह लहू रिस आया था ··कई जगहों से मांस भी फटा हुआ, पर पूरा बदन तपे लोहे की तरह चमक रहा था···सीना कुछ अधिक ही फूल गया था। क्रोध के कारण आंखें जलती हुईं।

वे सब बड़बड़ा रहे थे, उसकी प्रशंसा भी कर रहे थे···पर अपने भीतर एक अदृश्य प्रभाव को हावी होते पा रहे थे—ऐसे प्रभाव को, जो उन्हें ईश्वरीय लग रहा था ! एक अविश्वसनीय सत्य जो घट गया था उनके सामने ! अति-विश्वसनीयता के साथ ! राधा ने भीड़ के बीच से आगे बढ़कर छाती से लगा लिया था वसुषेण को ! सहमी, परेशान-सी उसके बदन को यहां-वहां टटोलती हुई बुदबुदाने लगी थीं—"तू·· तू ठीक तो है वसु ? तुझे अधिक चोट तो नहीं आयी बेटा ?"

मुसकराकर उत्तर दिया था वसुषेण ने—"मैं पूरी तरह स्वस्थ हूं माता ! तुम निश्चिन्त हो-ओ !"

नया नामकरण हुआ वसुषेण का ! दुर्दान्त वृष को वृष-शक्ति से ही हत करनेवाला पुरुष साक्षात् वृष !

वृष ! कब, किसने, कैसे नाम दिया था। मालूम नहीं। बस, सहसा वसुषेण को वृष नाम से पुकारा और पहचाना जाने लगा था। अदम्य साहस

और दुर्दम्य शक्ति से भरी वह घटना चम्पानगरी ही नहीं, दूर-दूर तक किंवदन्ती की तरह फैल गई थी···

राधा-पुत्र वसुषेण अद्भुत शक्ति से सम्पन्न है ! देव-चमत्कार की तरह ! और फिर वही एक चमत्कार तो नहीं किया था वृष ने। निरंतर चमत्कार करता गया था वह··· एक के बाद एक···

कुल-शील का प्रश्न गौण हो गया था। जिस दिशा से वृष निकलता, उस दिशा से आदर-अभिवादन में अनेक लोग नतशिर हो जाया करते ! केवल शारीरिक शक्ति ही नहीं थी वृष के पास, निरंतर अभ्यास और साधना से उसने युद्धकला में भी निपुणता प्राप्त कर ली थी। अचूक बाण संधान में सक्षम था वह। आश्चर्यजनक कुशलता से विविध अस्त्रों का चालन-संचालन करने की योग्यता प्राप्त थी उसे ! उसके कारण चम्पा-नगरी सम्मानित हुई, पुरवासी गौरवान्वित हुए अंग-राज्य को गरिमा मिली।

किन्तु मन से अब भी एक त्रास नहीं हटता था—अपने गुण-पराक्रम और शक्ति-साधना से सार्वजनिक सम्मान पाने के बावजूद मृत्युंजय कर्ण 'सूत-पुत्र' का सम्बोधन नहीं हटा पा रहे हैं ! यह बोध मन से नहीं निकल पा रहा है कि वे किन्हीं कुलीन माता-पिता की संतति होकर भी कुलीनता के समाज-सम्मान से वंचित हैं ! योग्यता, क्षमता, सिद्धि, शक्ति और पराक्रम ने सम्मान, वैभव और सम्पत्ति में वृद्धि की थी, किन्तु लोगों की दृष्टि कोरों पर दीखती हेयता और उपेक्षा से मुक्ति नहीं ! सब कुछ पाने और पाते जाने के बावजूद वह घाव पूर्ववत् मन पर मौजूद था जिसे जनमने के साथ कर्ण को सारे जीवन के लिए उसके माता-पिता ने दे दिया ! कौन हैं वह ? कहां का है ? कैसे आया राधा की गोद में ? किस कुलीन रक्त का दोष-परिणाम है वह निर्दोष !

जब-जब सोचते, व्यथित हो उठते। लगता कि असंख्य शूल उनके अर्जित सम्मान को कोंच रहे हैं ! उनकी आस्था को धिक्कार रहे हैं ! उनकी सिद्धि को लांछित कर रहे हैं ? उनके पराक्रम को धुंधला रहे हैं ! उनकी विजय को पराजय में बदल रहे हैं !

मन होता था कि माता राधा से कहें, शिकायत करें—"तुम तो कहती

थीं माता कि अपने गुण-सिद्धि से समाज लांछन परे हो जाएंगे, पर कहां परे हुए हैं वे ? क्या सभा-समारोहों, राजदरबारों और उच्च-वर्णीय लोगों के बीच मैं अपने आप से सूत-पुत्र सम्बोधन हटा सका हूं ! कहां बदली हैं समाज-स्वीकार की दृष्टियां ? उनके मानदंड ?" किन्तु नहीं कहा। कहना ठीक न होता। कम-से-कम माता राधा को इस तरह पीड़ा पहुंचाना वृष के लिए असंभव !

बढ़ती शक्ति, प्रतिष्ठा और कीर्ति के साथ-साथ कभी-कभी समाज-स्वीकार दृष्टियों में बदलाव आया दीखता था···लगता कि संभवतः एक समय आएगा जब वे सब वसुषेण को एकमत स्वीकार लेंगे उसकी सत्ता, शक्ति, प्रतिष्ठा और कीर्ति के आधार पर ! पर जल्दी ही समझ लिया था कि जितना बदलाव दीखता है—वह सतही है। बुनियाद में वही तिरस्कार और उपेक्षा बैठी है···सत्य के हर मुहाने पर भीतर लिखा हुआ है—"सूतपुत्र ! नीच ! अज्ञात कुल-शील वसुषेण !"

विचार आता —बहुत आहत होते।

कितनी-कितनी घटनाएं, कितने-कितने अवसर नहीं हैं—जबकि इस सत्य को कर्ण ने आत्मा के भीतर स्थायी घाव की तरह महसूस किया ? कितने मौके नहीं आए जब इस सारी व्यवस्था, समाज और तथाकथित कुलीनों के प्रति विरक्ति भाव कर्ण के भीतर नहीं उभरा ?

बहुत से अवसर ! बल्कि लगता है - सब कुछ पाकर भी, सब कुछ खोया-सा रहा। स्मृति में एक-एक कर अनेक घटनाएं सिलसिलेवार बिखर जाती हैं···इन घटनाओं ने कर्ण को किसी-न-किसी तरह अपमानित किया है ! उस झूठी कुलीनता के नाम पर, जिसने अपना पाप ढोने के लिए सारे जीवन कर्ण को गलाया !

कुलीनता, कुल और वर्ण श्रेष्ठता···यहां तक कि उस सबसे अज्ञात-सी चिढ़ मन में समाने लगी थी, जो सारे सामाजिक, राजनीतिक ढांचे में दीखता था ! उन झुके सिरों से घोर विरक्ति होती जो किसी कुलीन, उच्च वर्ण व्यक्ति के आगे केवल इस कारण झुकते थे कि वह 'समाज का श्रेष्ठ' है !

समाज-श्रेष्ठ ? हुंह ! एक दुत्कार आत्मा के भीतर से उठती और नकारभाव से समूचे व्यक्तित्व को झकझोर जाता !

ऐसे कुलीनों को कर्ण कभी नहीं स्वीकारेंगे ! उन्हें पराजित करके, नष्ट करके या समाप्त करके ही शान्ति महसूस करेंगे। संभवतः इस तरह उस पीड़ा में राहत मिले जो इस व्यवस्था,कुलीनता और वर्ण-आधार ने उन पर थोप दी है !

मन के भीतर विष-बेल कब उग आई थी और कब उससे केवल निषेध का विष झरने लगा था—मालूम नहीं हुआ ! इस निषेध ने कर्ण के व्यक्तित्व में कटुता, षड्यंत्र यहां तक कि छल को भी स्थान दे दिया ! वह सब, जिसने कर्ण के इतिहास पर कलंक लगाया ! ऐसे जैसे चांदनी पर किसी ने कालिख छिड़की हो !

स्वयं ही छिड़की थी ये कालिख ! कभी-कभी मन में कोई अज्ञात शक्ति जागृत हो जाती। एकांत में सवाल कर देती—"क्या सच ही प्रतिसूर्य ! तुम जो कुछ कर रहे हो, वह उचित है ? पितृ भीष्म से अहंकार ? द्रोणाचार्य के प्रति अनकहा अस्वीकार ? और मित्रधर्म के नाम पर कूटनीति में छल और षड्यंत्र का बीजारोपण···क्या वह सब उचित है ? तुम्हारे लिए शोभनीय ?"

उत्तर नहीं होता था कर्ण के पास। अपने पर ही बौखला पड़ते। या तो किसी तरह मन को कहीं अटकाकर सोचों से परे ले जाते या फिर इस आत्म-प्रश्न से थककर अपने को ही निर्मम भाव से कुचलने लगते—"हां, ठीक है ! सब ठीक है ! उस सारी व्यवस्था से मेरा विद्रोह है जो अपने पाप का परिणाम मुझ-जैसी किसी अवैध सन्तान को जन्म देती है ! उन सब कुलीनों और उच्च वर्णवालों से विद्रोह है, जिन्होंने अपना-दोष-दंड मुझ निर्दोष को भोगने के लिए बाध्य किया !"

मन फिर भी नहीं छोड़ता था पीछा··· इसी प्रश्न को तरह-तरह आगे बढ़ाता हुआ कुरेदता जाता···यहां तक कि कह बैठता—"तुम जानते हो मृत्युंजय ! भली प्रकार पहचानते हो कि तुम जो कुछ कर रहे हो, वह केवल प्रतिक्रिया है—क्रिया नहीं ! अपने दोष और अपनी विकृति जानते हुए भी तुम निरंतर पाप चेष्टाओं को बढ़ाये जा रहे हो ?"

"निस्सन्देह !" कर्ण जबड़े कस लेते। दांत इस तरह भिंच जाते जैसे अपने ही घाव का दर्द सह रहे हों। कहते—"सब कुछ जानते हुए ही मैं वह सब कर रहा हूं ! करता रहूंगा ! यह सब करके ही मुझे शान्ति मिलती है ! नाश मेरा सुख बन चुका है !"

बहुत बार इसी निर्लज्ज उत्तर के साथ अपने भीतर उठी सात्विक आत्म-शक्ति और उसके न्यायिक पहलू को कुचल लिया था महावीर कर्ण ने···फिर भी निरंतर लगता था कि कुचल नहीं पाते हैं। इस उद्दंड सोच के साथ अपने ही भीतर एक क्रूर सुख पा लेते हैं—झूठी शान्ति···

पर न तो मन के भीतर छिपा बैठा सत्य गुमता है, न आत्मा की सात्विकता ! बेबस रह जाते थे कर्ण ! रण-क्षेत्र में कोई नहीं ठहर सकता था कर्ण के सामने ! निरंतर श्रम, साधना, तपस्या और भक्ति से इतनी शक्ति पा चुके थे प्रतिसूर्य कि मृत्युंजय कहा जाने लगा था उन्हें ! जिस राह निकल जाते—उस राह एक सन्नाटा और स्तब्धता बिखर जाया करती ! सेना सहित जिस देश की ओर बढ़े थे, युद्धपूर्व ही उस देश ने उनका नाम सुनकर घुटने टेक दिये थे ! ऐसे प्रतापी वीर के भीतर कहीं कोई ऐसी शक्ति भी है जो उसे थका सकती है ? पराजित कर देती है··· और जिसे वह कभी नहीं जीत सका है—विश्वास करने को स्वयं कर्ण का मन ही तैयार नहीं होता था, किन्तु सत्य··· ?

सत्य यही था। सब जीतकर भी सब हारा हुआ कर्ण ? सूर्य की तरह तेजवान होकर भी अपने ही अन्धेरों में सिर धुनता हुआ बेचैन प्रतिसूर्य ! सफलता के निरंतर इतिहास को गढ़ता हुआ कर्ण हर शब्द के साथ अपने ही भीतर असफलता की कहानी रचता हुआ !

यही है कर्ण ! समय काल का सर्वोच्च सत्य ! वंशानुगत कुलीनता के तेज से दमदमाते राजपुरुषों के बीच केवल स्वयं संयोजित कुलीनता की गर्व-गरिमा से सूर्यवत् तेजस्वी कर्ण !

कोई नहीं जानेगा कि बाहर से चमकते इस तेज ने अपने भीतर सारे जीवन कितने अन्धकार को पिया ! पौरुषेय उपलब्धियों की निरंतर बहु-विधि प्राप्ति के बावजूद कितना खोखलापन सहा ? कितने प्रयत्न किए थे कि समाज स्वीकारे ! कर्ण को कर्ण के व्यक्तित्व-कर्तृत्व का अधिकार दे ! सूखी, रसहीन प्रतिष्ठा के बजाय समाज कर्ण को सच्ची चाहत और श्रद्धा दे !

पर कोई प्रयत्न कारगर नहीं हुआ। कोई उपलब्धि काम नहीं आई ! कोई विजय, इस पराजय बोध को नहीं हटा सकी ! वृष, महावीर, मृत्युं-जय, वैकर्तन, प्रतिसूर्य, कर्ण···कितने ही नये-नये नाम मिले—पर केवल एक नाम नहीं हट सका—'सूतपुत्र !'

धिक्कार उठ आता है, शुरू-शुरू में केवल धिक्कार ही उठता था। इस धिक्कार से उठता था समाज निषेध का भाव ! निषेध से केवल नाश की व्यवस्था ! और नाश से विचित्र-सा आनन्द !

बहुत कुछ घटा कर्ण की जीवन-कथा में ! उसके जन्म से लेकर कौरव-पाडवों के इस महानाशक समर तक···यहां तक कि कर्ण अब अन्तिम युद्ध लड़ने जा रहे हैं···पर वह निर्मम सम्बोधन उसी तरह ठहाके मारता हुआ सामने खड़ा है ··चीखें बिखरी हुई हैं कौरव सेनापति मृत्युंजय के गिर्द !

सूतपुत्र ! राधेय ! नीच ! कुल-जाति-हीन अवैध संतान !

एक झटके से करवट ली·· लगा था कि एकसाथ अनेक विषबाण बदन में समा गए हैं !

पलंग पर बैठ गए।

हवा का झोंका खाकर परदा जोर से झिलमिलाया था···झिलमिलाहट के साथ विगत कुछ पल के लिए चोट पहुंचाकर चला गया !

आवाजें अब भी कानों में हैं···सूतपुत्र !

पसीना बदन पर चिपचिपाता हुआ। व्यग्र होकर इधर-उधर देखने लगे कर्ण। इस पल किसीने नहीं कहा है सूतपुत्र ! पर यह शब्द कानों में इस तरह घुलकर रह गया है कि कभी, किसी भी पल इस अहसास से परे नहीं हो पाते।

चुपचाप सन्नाटा और सन्नाटे के बीच अपने ही कानों में घुला अपने ही प्रति धिक्कार-शब्द सुनते हुए चुपचाप बैठे रहे। इस तरह जैसे कर्ण बेबस हों, शक्तिहीन, एक सीमा तक असहाय और निश्चेष्ट तथा शब्द स्वरों की तेज तलवारें जगह-जगह से उन्हें काटे डाल रही हों !

पहली बार नहीं हुआ है ऐसा। अनेक बार हुआ है ! कभी इस असत्य शब्द और उसके लांछन को झेलकर और कभी अपने बारे में सत्य जानकर !

लगा कि परदा फिर स्थिर हो गया है। एक नया चित्र !

कर्ण के जीवन में कुछ भी, कभी पुराना नहीं हो सका। न उनका असम्बद्ध ! न सम्बद्ध ! सब, सदा नया···हर घटना सम्बद्ध है—समाज-स्वीकार की इच्छा और सच्चे अधिकार की लड़ाई से···और हर लड़ाई सम्बद्ध है—केवल इस सूतपुत्र' शब्द से !

मन हुआ था कि उठे और चहलकदमी करे···पर उठे नहीं। चित्र से दृष्टि जुड़ गई। या यों कि दृष्टि से चित्र जुड़ गया···

'सूतपुत्र' शब्द से कहीं अधिक इस शब्द के असत्य और कर्ण के सत्य ने आहत किया था उन्हें ! विशेषकर तब, जब मालूम हुआ था कि वह तेजस्वी सूर्य और कुरुराज्य की महारानी कुन्ती के कौमार्य-सम्बन्ध का परिणाम हैं···

वसुषेण की शक्ति—अदृश्य क्षेत्रीय सत्ता बन गई थी उस समय। चम्पानगरी ही नहीं, दूर-सुदूर तक उनका प्रभाव, सम्मान और शक्ति चर्चित थे। इस शक्ति के गिर्द जाति-समाज के लोग कब घिर आए थे—वसुषेण को पता ही न चला। केवल इतना मालूम हुआ था कि वह राजा भले न हों, किन्तु अपरोक्ष रूप से सम्पूर्ण राजशक्ति उनके पास है··· अधिकार उन्होंने समेट रखा है।

अपनी ही जाति-समाज में अर्जित लोकप्रियता ने वसुषेण को जन-समर्थन दिया था। वह उनके रखवाले और उनके अधिकारों के लिए लड़ने वाले की तरह उभरे। यह नेतृत्व, किसी भी जन्मजात नेतृत्व से कहीं अधिक गहरी जड़ों वाला था। वसुषेण जब-जब सोचते, सुख मिलता, किन्तु तभी याद हो आता था—जन्मशः 'अज्ञात कुल-शील होना'! मन फिर से अन्धेरी गुफाओं में भटकता हुआ माथा पीटने लगता।

आंखें मूंदकर हर सूर्य-स्मरण और आचमन के समय यदि कोई इच्छा जागती तो केवल यह कि वसुषेण को उसको अज्ञात कुल-शीलता के दोष से मुक्ति दिला दें सूर्य!

कौंधकर मन सवाल कर उठता—"तुम विचित्र हो, वसुषेण? अपने आराध्य से यदि कुछ चाहना ही है तो विश्व का साम्राज्य मांगो? अपार सम्पत्ति-शक्ति और सत्ता मांगो! वैभव और गौरव के अक्षुण्ण कोष की याचना करो! पर तुम हो कि विगत के अन्धकूप में भटकते हुए उस जल-स्रोत का स्थान ढूंढ़ रहे हो, जो बरसों पहले रीत-बीत चुका है?···"

"नहीं!" उत्तर में वसुषेण के भीतर एक ज्वालामुखी फूट पड़ता—"मुझे वह सब नहीं चाहिए! मुझे केवल उस जलस्रोत का मूल चाहिए! कौन थे वे, जिनके दोष का दंड मैं भोग रहा हूं? कौन-सी जाति, कुल और समाज है मेरा?···यह सब जान सका तभी मुझे शान्ति मिलेगी!"

"जान लेने पर अधिक अशान्त भी तो हो सकते हो वृष?" मन तर्क से उलझा देता। आंखें मुंदी होतीं, किन्तु पलकों के भीतर सूर्यकिरणें इस तरह समाए जातीं जैसे चमड़ी के बारीक रन्ध्रों की राह पुतलियों पर सरक आई हों···

"क्या वह अशान्ति इस अजानेपन की पीड़ा से अधिक दुःखदाई

होगी ?" कर्ण अपने ही दृढ़-प्रश्न के उत्तर में अपना ही कठोर स्वर सुनते। "निश्चित ही नहीं !"

"किन्तु..." मन फिर कुछ पूछना चाहता। कर्ण जबड़े कसकर उसे दबोच लेते—"नहीं ! मैं इस सम्बन्ध में कोई तर्क, कोई प्रश्न या कोई उलझाव नहीं चाहता ! मुझे, केवल अकारण मुझ पर लगाया गया कलंक मिटाना है ! जिस दिन जान सका, उस दिन चीख-चीखकर उन सभी को जवाब दे सकूंगा, जो धिक्कार-भरी दृष्टियों से मुझे गाली देते हैं—अज्ञात कुल-शील ! अवैध संतान !"

पर मन नहीं थमता। तर्क वसुषेण की कठोरता से कहीं अधिक कठोर और उनसे कहीं अधिक शक्तिशाली। वसुषेण को महसूस होता जैसे उनके अपने ही भीतर कोई निरंतर वार करता रहता है...'यह उचित है—यह अनुचित'...अहसास की नुकीली सुइयों जैसी कुरेदनें करता हुआ...सवाल फिर से उठ आता—"यह सब सोचते हुए यह मत भूलना वसुषेण कि तुममें शक्ति है, पराक्रम-क्षमताएं हैं, गुण हैं और उससे कहीं अधिक है देव आस्था ! कहीं ऐसा न हो कि अपने दुःसह और अर्थहीन लक्ष्य की प्राप्ति में तुम वह सब खो बैठो, जो तुम्हारे पास है ! जिसके रहते तुम अजेय हो सकते हो ! महारथी कहला सकते हो ! तुम्हारे शौर्य और वीरता को लेकर भरतखंड के कोने-कोने में तुम्हारी कीर्ति-पताका फहर सकती है ! जो प्राप्य है सम्पूर्ण एकाग्रता से उसे पाने की चेष्टा करना ही उचित है राधेय ! व्यर्थ हो विगत के धागे उधेड़ने से कुछ नहीं मिलेगा !"

मुंदी पलकें, तेजस्वी सूर्य की प्रतिक्षण बढ़ती अग्निशक्ति और वसुषेण की तपती पीठ...लगता कि आत्म भी तपने लगा है ! उससे कहीं अधिक अपने-आपसे पराजित होते अपने ही उत्तर ! वसुषेण तिलमिला उठते। एक रुआंसी प्रार्थना होंठों पर बुदबुदाहट बन जाती ! "तेजेश्वर ! तुम्हारी शक्ति अपार है ! असीमित ! तिमिर कभी तुम्हारा सामना नहीं कर सका ! तुम्हारा सत्य हर असत्य को रौंदता रहा है ! तब मुझे ही क्यों अन्धकार सहने के लिए बाध्य किए हुए हो देव ? मुझे शक्ति दो कि मैं इस कलंक को मिटा सकूं ! अपने माता-पिता को जान सकूं ?..."

और उसी पल लगता कि पलकों के भीतर किरण ने हौले से अंगड़ाई

ली है। आराधना के लिए ध्यानार्थ जिस अन्धकार को समेटा था वसुषेण ने, सहसा उसमें कुछ तारे झिलमिलाने लगे हैं ! जनमते, बुझते और कौंधते जाते रोशनी के पुंज ! एक के बाद एक !

कुछ पल पहले तर्कातर्क करता मन सहसा कह उठता—"ठीक है वृष ! अगर तुम सत्य को जानकर ही शान्ति पाना चाहते हो, तब शीघ्र ही सत्य तुम्हारे सामने होगा ! पर वह सत्य तुम्हारे ही आराध्य सूर्य की तरह तुम्हें—तुम्हारे अपने ही भीतर जला डालेगा या तेजमय कर देगा—नहीं कहा जा सकता !"

क्या यह कर्ण के अपने भीतर की आवाज है ?···उनका अपना विश्वास ? या उनके आराध्य देव सूर्य का आश्वासन ?

तय करना कठिन। वसुषेण एक विश्वास लिए हुए पलकें खोलते ·· आसन, आचमनी और पात्र आदि उठाते, घर लौटने के पूर्व पुनः प्रणाम करते—चले आते।

रोज का यही क्रम···मन बार-बार कहता था कि एक-न-एक दिन—संभवत: बहुत शीघ्र वह अपना मूल पा सकेंगे···मूलस्रोत···जन्मबिंदु !

मूल स्रोत की खोज-चेष्टा चलती रही थी। इसी चेष्टा ने बाद में सत्य को सामने किया अथवा संयोग ने—कहा नहीं जा सकता, किन्तु हुआ कुछ इसी तरह···

सत्यक् और सम्यक्[1] निरंतर पुर में आते-जाते रहते थे···बहुतेक पुरवासियों से प्रगाढ़ता भी बनी हुई थी उनकी···उनका आना सहज समझा जाता था। अपने बारे में प्रचारित कर रखा था उन्होंने कि वे व्यापारी हैं।

दोनों भाई मालव-वासी थे। दूर, बहुत दूर चर्मणवती (चम्बल) के किनारे रहने वाले। महाराज कुन्तिभोज के प्रजाजन।

शत्रुन्तप ने अनेक बार उन्हें चम्पानगरी में देखा था···बहुत छुटपन से देखता आया था। देखा उन्हें वसुषेण ने भी था, किन्तु शत्रुन्तप के मन में ही पहला-पहला सन्देह बीज उगा···प्रतिवर्ष ये दोनों भाई किसलिए चम्पानगरी आ पहुंचते हैं? अनेक नगरवासियों से परिचय हो गया है उनका···बातचीत में लौट-फिरकर बार-बार वसुषेण को लेकर प्रश्न करते हैं···ऐसे जैसे कुछ खोज-तलाश रहे हों! शत्रुन्तप का मन आशंका से भर उठा था। कहीं बन्धु वसुषेण की पराक्रम कथाओं ने किसी दुष्टबुद्धि

---

१. वनपर्व : (महाभारत) के ३०६वें अध्याय में श्लोक-क्रम १० से १५ के बीच वर्णित है कि सद्यजात कर्ण को नदी में बहा देने के बाद—कुन्ती गुप्तचरों के द्वारा निरंतर कर्ण का सारा हाल मालूम करती रहीं।

शत्रु को तो पैदा नहीं कर दिया, जो निरंतर वसुषेण सम्बन्धी जानकारियां जुटाता रहता है ?

अधिरथ नगर के मुखिया थे। सूत-समाज में सम्मानित। अधिरथ और उसके परिवारजनों का नैतिक दायित्व था कि नगर में होने वाली हर गतिविधि पर दृष्टि रखें। वसुषेण के बढ़ते प्रभाव के कारण यह दायित्व और गहरा गया था। शत्रुन्तप ने वही धर्म निबाहा। निश्चय किया था कि जैसे भी हो सत्यक् और सम्यक् का इस तरह संदिग्धावस्था में चम्पानगरी आना-जाना परखेगा···

उसके पूर्व वसुषेण को उन्हें लेकर सूचना देना शत्रुन्तप ने आवश्यक समझा···

सत्यक् और सम्यक् हमेशा की तरह एक बार फिर से चम्पानगरी में थे। सदा की तरह वसुषेण को लेकर ही पूछताछ करते हुए···

शत्रुन्तप लपक पड़ा था गृह की ओर।

कक्ष में माता राधा और अधिरथ से वार्ता में व्यस्त थे वसुषेण। राधा के चेहरे पर चिन्ता और व्यग्रता, जबकि अधिरथ अति-उत्साहित। एक ओर वसुषेण शान्त भाव से सब कुछ सुनते हुए। राधा और अधिरथ उलझे हुए थे। अधिरथ कह रहे थे—"मोहग्रस्त मत हो, राधे ! वसुषेण अब बालक नहीं, युवक है। तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिए कि तुम्हारा पुत्र अपने रण-कौशल और वीरता से युगपुरुष बनेगा ! इसका गौरव हमें भी तो अमरता देगा देवी ? धैर्य से विचार करो !"

"किन्तु · इतने समय तक मैं पुत्र से अलग कैसे रह सकूंगी देव ?" राधा की आवाज भारी थी। लगता था कि रुआंसी हो रही है···ऐसे जैसे अब बरखा की तरह झरीं—तब झरीं···

अधिरथ मुसकराए। वसुषेण की ओर देखा, फिर गहरा श्वांस लेकर कहा—"राधे ! वसुषेण के प्रति तुम्हारे नेह का मैं आदर करता हूं, किन्तु इस नेह को उसके भविष्य का बंधन मत बनाओ— इसीमें वृष का सुख है और इसीमें हमारा शुभ।···मातृत्व और नेह की अति एक सीमा पर आकर स्वार्थ बन जाती हैं राधा और स्वार्थ नाश का सर्जक होता है। वृष को हस्तिनापुर जाने दो, इसकी क्षमता और सीमा रेखा चम्पानगरी से बहुत

आगे है— सम्पूर्ण भरतखंड तक! आचार्य द्रोण का शिष्यत्व इसकी योग्यता को पूर्णता देगा! इसे हृदय से लगाकर विदा करो!"

"पर···" राधा ने कुछ कहना चाहा था, किन्तु अधिरथ ने बात काट दी। बोले—"यात्रा की तैयारी करो देवी! मैं स्वयं वसुषेण को महान् युद्धाचार्य के चरणों में पहुंचाऊंगा![1] मुझे पूर्ण विश्वास है कि महाराज धृतराष्ट्र मेरी मित्रता और कुरु-राज्य की मेरे द्वारा की गई सेवा का विचार करके आचार्य से वृष को आयुध ज्ञान दिलवाने का प्रयत्न करेंगे!"

राधा चुप हो गईं। वसुषेण की ओर एक बार देखा, फिर होंठ काटकर पलकों में ही आंसू समेट लिये। अधिरथ बाहर चले गए। देर से द्वार पर थमा हुआ शत्रुन्तप माता-पिता की बातें सुन रहा था···यह जानकर उसे हलका-सा धक्का लगा था कि पिता वृष को पुर से बहुत दूर द्रोणाचार्य के शिष्यत्व में पहुंचाने जा रहे हैं, किन्तु यह सोचकर सुख भी मिला कि उसका बड़ा भाई युग के सबसे बड़े युद्धज्ञ से आयुध-ज्ञान प्राप्त करेगा! इसमें सन्देह ही न था कि कर्ण के तपे पौरुष और साहस के साथ युद्ध का शास्त्रीय ज्ञान उसे महारथी बना देगा! एक पल के लिए शत्रुन्तप भूल ही गया था कि वह भाई को विशेष सूचना देने के लिए ही वहां तक आया है।

राधा उठीं। चाल में अजब-सा ढीलापन समाया हुआ था। वसुषेण के करीब आ खड़ी हुईं। शब्दहीन होकर कुछ पल टकटकी बांधे हुए पुत्र को देखती रहीं, फिर देर से पलकों पर थमे आंसू बह आए···लग रहा था कि वसुषेण की हस्तिनापुर यात्रा के साथ वे भी मन से यात्रारत हो जाएंगी। नगर और इस गृह में रहते हुए भी यात्रारत।··· वसुषेण जब तक लौटेगा नहीं अथवा राधा को अपने पास नहीं बुला लेगा तब तक राधा इसी तरह अपने ही भीतर अपने एकांतों में अथकित चलती रहेंगी! उनका हर स्मरण वसुषेण से जुड़ा होगा, पलक के हर मुंदाव के साथ वसुषेण का चेहरा उन्हें दीखेगा, हर सूर्योदय के साथ वह याद आएगा, हर दिन सूर्यास्त पर

---

१. अधिरथ कभी धृतराष्ट्र के सारथी रहे थे। कुरु-जांगल की राज्यसेवा का गौरव उनसे जुड़ा था और अधिरथ ही थे, जो स्वयं कर्ण को द्रोणाचार्य का शिष्यत्व दिलाने हस्तिनापुर लेकर गये। महाभारत (वनपर्व) के ३०९वें अध्याय में श्लोक क्रम १५ से २० के बीच।

पुकारता महसूस होगा···

वृष ने भी माता के मन की दशा समझी। एक बार उसका मन भी डगमगा उठा था। जाए या न जाए ?···जब पिता ने बतलाया था कि उसे वह द्रोणाचार्य से शस्त्र-विद्या सिखलाएंगे तो हर्षोन्मत हो उठा···आचार्य द्रोण से युद्ध-ज्ञान ?···समय के सबसे बड़े युद्धशास्त्री का वरद पाकर क्या नहीं पा जाएगा वृष ?···कौन होगा जो उसे चुनौती दे सकेगा ? रणक्षेत्र में उसका उत्तर रह पाएगा ?···लगा था कि कल्पना भर से सूर्य की किरणों-जैसा कीर्ति प्रकाश उसके अपने बदन से झर उठा है···अपने को ही प्रकाशित अनुभव किया था कर्ण ने·· किन्तु अब, जब राधा की व्याकुल दृष्टि उसके सामने है—उसे बांधती हुई दृष्टि···पुतलियों पर झिलमिलाते आंसुओं की हर परत के साथ निवेदन करता हुआ चुप चीत्कार—"नहीं ! मुझसे दूर मत जा वृष ! तुझे देखे बिना कैसे रह सकूंगी ?···इतना निर्मोही मत बन पुत्र ?···"

···तब कर्ण का मन हचमचाया हुआ। व्यग्र होकर भीतर-ही-भीतर गुनगुना उठा था—"नहीं, कर्ण ! मत जा ! इन आंखों की पुकार और दृष्टि की जकड़न तोड़कर तू कैसे जा सकता है ?···नहीं—तू नहीं जा सकता !"

थूक का घूंट निगलकर वृष ने कहा था—"माता, निश्चिन्त हो-ओ—मैं नहीं जा रहा हूं। मैं सदा ही तुम्हारे चरणों में रहूंगा ! जिस तरह तुम मुझे बिना देखे नहीं रह सकतीं, मैं कैसे रह सकता हूं ?··· न मां यह असंभव है ! मैं भी तुमसे दूर नहीं रह सकता !"

राधा आगे बढ़ीं। हाथ कांपे···फिर थरथराती हथेलियों ने वृष का भारी सिर अपने कोमल स्पर्श से नहला दिया। कहा—"नहीं, पुत्र ! मैं तेरी माता हूं···तुझे पाकर मैंने आनंद पाया है, ममत्व-सुख लिया है। पर मैं इतनी स्वार्थी नहीं कि तेरे भविष्य की प्रगति-यात्रा में बाधक बनूं ?···तेरे पिता ने उचित निर्णय किया है। तुझे जाना ही होगा ! मैं उस दिन की प्रतीक्षा करूंगी, जिस दिन तू अपने गौरवानुकूल पराक्रम के विविध सम्बोधनों से भरा-पूरा होकर मेरे पास आएगा ! वही दिन मेरे जीवन का सबसे श्रेष्ठ दिन होगा ! मेरी सबसे बड़ी उपलब्धि ! मेरी लिए सबसे

अधिक आनंददायी क्षण !"

"पर माता, अभी-अभी तो तुम चाहती थीं कि मैं सदा तुम्हारे चरणों में रहूं ?" तुम्हारी दृष्टि से कभी ओझल न होऊं ?…"

"तब भी तू सदा मेरे पास रहेगा, वृष !" राधा ने भर्राए, किन्तु हर्षित स्वर में उत्तर दिया था—"पल-पल मेरे शरीर का हर अंग तुझे शिशु-भाव के साथ स्मरण करता रहेगा ! पतितपावनी माता गंगा की हर लहर तेरी कीर्ति सूचना मुझ तक ले आया करेंगी और इस तरह तू मेरे पास होगा—मेरे बहुत करीब।…हर प्रात: भगवान सूर्य जब प्रकट हुआ करेंगे, तब पहली किरण के साथ मैं तुझे चूम सकूंगी, उस प्रकाश से जुड़कर तुझे सीने से भी लगा सकूंगी·· तू तो सदा मेरे पास होगा, पुत्र !"

"माता !"

राधा ने आंसू पोंछ लिये थे। पति के शब्द कानों में श्लोक की तरह गूंजे। 'निर्देश श्लोक' एक तरह से धर्म श्लोक—'नेह को उसके भविष्य का बंधन मत बनाओ, राधे ! इसीमें वृष का सुख है !' लगता था कि यही श्लोक है, जिसने राधा की ओस जैसी झरती ममता को चट्टानी कठोरता दे दी है…बोली थीं—' तू हस्तिनापुर यात्रा की तैयारी कर पुत्र ! पितृ की इच्छा और उनका आदेश निबाह !" फिर वह बिना वहां रुके—तेजी से दूसरे कक्ष में चली गई थीं।

कर्ण—अकुलाए हुए-से, चुपचाप बैठे रह गए…कुछ सोच सकें, इसके पूर्व ही शत्रुन्तप सामने आ खड़ा हुआ, "भइया ?…"

"हूं ?" कर्ण चौंके—सजग हुए।

"तुम…"

"हां, मैं हस्तिनापुर जा रहा हूं—आचार्य द्रोण से शिष्यत्व प्रदान करने की प्रार्थना करने ! यांत्रिक ढंग से उत्तर दे दिया था कर्ण ने।

"यह जानकर मैं प्रसन्न हुआ भइया, किन्तु…मैं किसी और संदर्भ में आया था तुम्हारे पास।" शत्रुन्तप ने कहा, फिर बतला दिया था कि उसके मन में क्या संशय है·· सत्यक् और सम्यक् वसुषेण के भी देखे हुए थे, किन्तु उस तरह, जिस तरह शत्रुन्तप के मन में सन्देह का अंकुर फूटा, कर्ण के मन में कभी नहीं फूटा था ! हतप्रभ-से सुनते रह गए थे कर्ण।

शत्रुन्तप बोला था—"वे अपने-आपको व्यापारी कहते रहे हैं भइया, किन्तु यह बात मैं कभी नहीं समझ सका कि वह केवल तुम्हें लेकर ही पूछ-ताछ क्यों करते रहते हैं ? क्या तुम व्यापार-वार्ता के विषय हो ?"

कर्ण मुसकराए। होंठ भींचे, इस तरह भाई को देखा जैसे कहा हो—"कहते जाओ, मैं सुन रहा हूं···"

शत्रुन्तप ने आगे कहा था—"पिछले कुछ बरसों से निरंतर उनकी बातचीत का विषय मैंने तुम्हें ही पाया है और सन्देह है कि ये लोग, जो दूरदराज कुन्तिदेश से यहां तक आते हैं और केवल तुम्हें लेकर ही बातचीत करते हैं—व्यापारी नहीं, गुप्तचर हैं ! कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम्हारे बढ़ते प्रभाव के कारण किसी गुप्त शत्रु ने कोई षड्यंत्र बना रखा हो ?"

कर्ण की तीखी नजरें भाई पर जा ठहरीं—देर तक ठहरी रहीं। शत्रुन्तप की बात में दम था, आशंका में तर्क। कुछ पलों की चुप्पी के दौर में जैसे दूर तक सोच लिया था कर्ण ने, फिर धीमे, किन्तु शान्त स्वर में कहा था—"चिन्ता मत करो, शत्रुन्तप ! मैं ज्ञात कर लूंगा कि वे लोग कौन हैं और किस उद्देश्य से चम्पानगरी में बार-बार आ पहुंचते हैं।"

शत्रुन्तप जितना आश्वस्त हुआ, उससे कहीं अधिक प्रसन्न। जब-जब बड़े भाई को उसकी कोई सम्मति पसन्द आती थी, तब-तब यही प्रसन्नता मिलती थी। सुख अनुभव होता। शत्रुन्तप विदा हुआ तो सोच में पड़ गए थे कर्ण···शत्रुन्तप का सन्देह अब भी कानों में गूंजता हुआ—"व्यापारी नहीं, गुप्तचर लगते हैं !"

किन्तु कर्ण के साथ तो ऐसा कोई कारण नहीं कि उन्हें लेकर गुप्तचरी की जाए ? यदि उनका पराक्रम और कीर्ति इसका कारण बनी हैं और किसी गुप्त शत्रु का उदय हुआ है तो गुप्तचर इस समय से प्रारम्भ होने थे, किन्तु ? सत्यक् और सम्यक् तो बहुत पहले से चम्पानगरी आ रहे हैं—उस समय से, जबकि राधा और अधिरथ ने कर्ण को गंगा माता की लहरों पर पाया था ?

लगा था कि कोई किरण कमरे में कौंधी है और मस्तिष्क के भीतर उतर गई है—हर अन्धेरे को छांटती, हर सोच को उजागर करती, सत्य को निर्दिष्ट करती हुई तेजस्वी सूर्य-किरण !

मन ने हौले से कहा था—"तुम किन्हीं कुलीन माता-पिता की सन्तति हो कर्ण ! और गुप्तचर तुम्हारे यहां आने या अधिरथ के गृह तक पहुंचने के समय से निरन्तर इसी क्षेत्र के दौरे करते रहे हैं···तुम्हें लेकर ही सूचनाएं एकत्र करते रहे हैं—कहीं ऐसा तो नहीं कि ये गुप्तचर तुम्हारे जन्मदाताओं में से किसी के द्वारा नियत हों ?"

लगा था कि स्वप्न देखा है उन्होंने। स्वप्न, जिसे सूर्य के प्रकाश की तरह अपने मन-मस्तिष्क के भीतर प्रकाशित पाया है उन्होंने···मन के विरुद्ध न कोई तर्क उभरा, न शंका जन्मी—लगा कि समाधान पा लिया है उन्होंने। निश्चय ही सत्यक् और सम्यक् का कर्ण के विगत से गहरा सम्बन्ध है···विगत जिसके कुछ अन्धेरे पन्ने कर्ण न कभी बांच सके, न सुन सके !

तुरन्त शत्रुन्तप को बुलवा लिया। उसके आते ही कहा था—"बन्धु ! तुम्हें एक दायित्व सौंपता हूं···" फिर दायित्व सौंप दिया था भाई को। कहा कि सत्यक् और सम्यक् का निरन्तर पीछा करें। उनके यहां से जाने के स्थान और मिलने-जुलने वालों को लेकर सूचनाएं दें। ये सारी सूचनाएं शत्रुन्तप को तुरन्त कर्ण के पास पहुंचानी थीं···कर्ण—जो उस समय तक आचार्य द्रोण के पास जा पहुंचने वाले थे।

शत्रुन्तप ने उत्तर दिया था, "जैसी आपकी आज्ञा भइया !"

अगले दिन जब कर्ण को लेकर अधिरथ हस्तिनापुर की ओर चले—उसके कुछ समय पूर्व ही शत्रुन्तप, सत्यक् और सम्यक् का पीछा करते हुए उसी दिशा में निकल चुका था !

फिर आया था वह पल, जब मर्माहत कर देने वाले सत्य से सामना हुआ ! मन के भीतर किस जगह घाव है और उस घाव का रंग-रूप कितना

उजला है और कितना बदरंग--यह भी उसी समय ज्ञात हो सका !

अनायास अपना ही कथन याद हो आया—"अपने जन्म का सत्य जान लेने पर अधिक अशान्त भी हो सकते हो, वृष !"

वह दिन याद आता है, जिस दिन पहली-पहली बार पता लगा था कि वह हस्तिनापुर की महारानी कुन्ती के पुत्र हैं ! सूर्य के वीर्यांश !

···सुनकर पहली-पहली बार विश्वास नहीं कर सके थे वह ! मन हुआ था कि चीख पड़ें, कहें—"यह···यह कैसे हो सकता है ? असंभव !" पर सत्य अनेक बार इतना वैचित्र्य लिए हुए निर्मम होता है कि उसकी अविश्वसनीय निर्ममता को सहने-देखने के लिए मनुष्य चकित होता हुआ बाध्य हो जाए। यही हुआ था उनके साथ ! निर्मम सत्य ने इस क्रूरता से प्रहार किया कि अपने-आपको अनेक जगह से स्वयं ही चिरते पाया ! सूखी लकड़ी की तरह टूटते-चटकते हुए !

कितनी-कितनी प्रतिक्रियाएं नहीं हुई थीं—सत्य को सामने पाकर ? या कि सत्य के सामने आकर ! सब एक-दूसरे के विपरीत ! विचित्र बात थी। किसी बार कर्ण ने चीखकर उस सत्य की चकाचौंध को नकारना चाहा था और किसी बार जोर से हंस पड़ने की इच्छा हुई थी·· किसी बार मन ने चाहा था कि मस्तिष्क-सन्तुलन खोकर जोर-जोर से चीखें, दौड़ें, सारे संसार को सुना दें—"सुनो ! सब कान खोलकर सुनो ! मैं सचमुच ही कुलीन और उच्च वर्ण का रक्त हूं ! तेजस्विनी कुन्ती और सूर्य की संतान !"

पर हर प्रतिक्रिया मन में ही दबी रही। जैसे सागर से ज्वार उठे, सागर में ही बैठ जाए—हर प्रतिक्रिया कुछ ऐसी !

सागर में उठा ज्वार समुद्र को किस तरह थरथरा देता है ? कल्पनाओं और भावनाओं के जितने जहाज सागर-तल पर बढ़ रहे होते हैं—उलट-पलट जाते हैं ! उनके साथ-साथ सैकड़ों ही इच्छाएं समुद्र के अनन्त गर्भ में समा जाती हैं !

सत्य के सामने आकर या कि सत्य को अपने सामने पाकर—यही कुछ हुआ था कर्ण के साथ ! उस पल के स्मरण ने कर्ण को हर पल थरथराया है···यह थरथराहट भीतर के घाव से उपजे दर्द की होती है या कि इस

थरथराहट से ही दर्द जनमता है—निश्चय करना कठिन है ! केवल यह निश्चय करना सरल है कि कर्ण के भीतर जिस ज्वार ने उस पल जनम लिया था, उसके कारण हुए विध्वंस की विभीषिका अब भी मौजूद है ! कुछ इस तरह मौजूद है, जैसे वह ज्वार कभी बैठा ही नहीं था···सदा उभरता रहा। जन्म से लेकर कर्ण के इस पल तक उभरा हुआ है···

सत्य का विचार !

और इस ज्वार की भयावह नाशलीला ! उथल-पुथल ! मन की शांत जल जैसे सतह पर एक विध्वंसकारी उथल-पुथल !

स्मरण भर से मन को उसी जलोद्वेग में उछलता हुआ पाते हैं···लगता है समुद्र-मन की सतह पर जल नहीं उछलता है; अपितु एक इच्छा उछलती हैं फिर इच्छाकाश को छू पाने में असमर्थ होकर अतृप्ति भाव से सतह पर ही सिर पटकने लगती है···

इच्छा है—कुन्ती के मुंह से एक बार सुन पाना—"पुत्र !" केवल एक बार की स्वीकारोक्ति कि—"तू मेरा ही कोख जाया है कर्ण ! तेरी नसों में मेरा और सूर्य का रक्त बह रहा है ! कुलीन और पवित्र रक्त है !"

गला चटकने लगा···

शिविर में हलकी रोशनी थी। अकुलाकर इसी रोशनी में यहां-वहां देखने लगे। गला सूख गया— इतनी प्यास ?

समुद्रवत् मन और उस पर ज्वार लिए रहे कर्ण प्यासे ? भला कौन मानेगा कि कुरु-राज दुर्योधन के एकमात्र विश्वास, इकलौती शक्ति और दिव्यतम अस्त्रों के संधाता मृत्युंजयी कर्ण प्यासे हैं ? इतने प्यासे कि वैभव-कीर्ति का कोई जल उनकी प्यास नहीं बुझा सकता ?

किन्तु वह प्यास भी अलग है—कर्ण के गले की चटकन का कारण

भी अलग ! अधिकार की इस प्यास के लिए ही तो सारे जीवन कर्ण खोजी रहे··· कुन्ती की गहरी आंखों में उतरकर कई बार चीखना चाहा था—"माता ! मैं प्यासा हूं ! मुझे समाज-स्वीकार का केवल दो बूंद जल दे दो ! मुझे और कुछ नहीं चाहिए ! कुछ भी नहीं ! बदले में जीवनदान के लिए भी तैयार हूं मां ?"

पर कुन्ती ने कभी नहीं सुनी वह आवाज। सुनी भी तो हर बार अन-सुनी करती रहीं और कर्ण की प्यास बढ़ती चली गई। प्यास के साथ-साथ बढ़ती गई तड़प। तड़प के साथ-साथ कुंठा ! विचित्र-सी घृणा जो केवल कुलीनता के प्रति ही नहीं, समूची समाज व्यवस्था और न्याय के प्रति पैदा हुई !

कर्ण जानते हैं कि अपने ही भीतर सिर पटकती, बिलखती हुई उनकी आत्मा ने तड़पकर विध्वंस का मार्ग चुन लिया ! कर्ण के सम्पूर्ण श्रेष्ठत्व पर सदा-सदा के लिए प्रश्नचिह्न लगा डाला !

कौन है जिम्मेदार इसका ? किस पर आता है इसका दायित्व ? किसका दोष है यह ?

क्या कर्ण का ?

नहीं ! कर्ण न तो दोष हैं न दोषी। कर्ण तो केवल किसी दोष का प्रतिकार हैं ! प्रतिकार उचित हुआ या अनुचित—अगली पीढ़ियां तय करेंगी ! कर्ण—केवल किसी समाज-दोष की एक पीड़ित प्रतिक्रिया है ! प्रतिक्रिया उचित थी या अनुचित—यह निश्चय करना भी आगत के दृष्टाओं का धर्म !

हौले से गला मसला···उठे और कक्ष में घूमने लगे। भोर के साथ ही या तो यह प्यास सदा के लिए बुझ जाएगी या फिर कर्ण अपने ही तेज में जल जाएंगे ! शेष रह जाएगा सूर्यकिरण का अमर अस्तित्व ! यह अस्तित्व लोगों को सदा-सर्वदा याद दिलाता रहेगा कि एक कर्ण हुआ था ! सूर्य-सा तेजस्वी और तप्त ! जितना दूसरों को जलाया उससे कहीं अधिक स्वयं ही अपने ही तेज में जला !

कभी-कभी लगता है कि कर्ण ने भूल की। क्यों नहीं कुन्ती के सामने उसी पल पहुंचकर प्रश्न कर दिया—"मुझे पहचाना नहीं माता ? या

पहचानकर भी अनपहचाना कर रही हो ? क्या आदमी स्वयं को भी इस तरह भूल सकता है ?" प्रश्न मन में उभरा···फिर उभरता ही चला गया। कर्ण अपने से ही तर्कातर्क कर उठे। ऐसे अवसर पर संभवतः कुन्ती उत्तर-हीन हो जातीं !

या हो सकता है बाध्य होकर कुन्ती उन्हें स्वीकार लेतीं ?

स्वीकार लेतीं और कर्ण को वह सब मिल जाता, जिसके लिए उनके समुद्रवत् मन पर ज्वार उठकर इच्छाकाश को छू लेने के लिए जूझ रहा था ?

ऐसा क्यों नहीं किया कर्ण ने ?

अनेक अवसर थे—जब कर्ण चाहते तो यह कर सकते थे ! शायद तभी कर सकते थे, जब पहली-पहली बार कुन्तिदेश के उन दोनों गुप्तचरों पर गुप्तचरी करने की योजना बनाते-बनाते अचानक कर्ण ने सत्य को पा लिया था !

एक बार फिर से पलंग पर आ लेटे वैकर्तन। पलकें मूंद लीं। सुबह से पहले एक बार फिर से उस सब को जी लेने की विचित्र-सी चाह उठ आई है मन में—जिसे जी चुके हैं···अनेक घटनाएं और घटनाओं की पीड़ा या उनका सुख !

उस दिन तय नहीं कर सके थे कि उस घटना से पीड़ा मिली या सुख ? अब तक तय नहीं कर पाए हैं···

जीवन सत्य के अपने ही गुफाद्वार पर खड़े हतप्रभ से देखते भर रह गए थे···उस पल सोच-समझ भी थम गए थे उनके !

यही क्यों—लगता है, सब कुछ थम कर रह गया था !

वृद्धावस्था के बावजूद अधिरथ उतने कुशल सारथी हैं—कर्ण ने

केवल उसी समय पहचाना था, जिस समय उनके साथ हस्तिनापुर यात्रा की ! सुना बहुत था कि अधिरथ कभी कुरु-राज धृतराष्ट्र के सारथी रहे थे। धृतराष्ट्र की अनेक विजय-कथाओं से अधिरथ का नाम जुड़ा था !

रास्ते में अधिरथ विगत के उन्हीं क्षणों को उधेड़ते-सिलते चले आए थे। विस्मय से कर्ण सुनते रहे। अधिरथ ने समूचे कुरु-राज और उस प्रतापी वंश की कहानी कह सुनाई थी···अनेक पात्र, पात्रों की विशिष्टताएं, कुल-रक्त की कीर्तिकथाएं, आदि···

कभी-कभी मन भटक जाता। याद आता कि शत्रुन्तप को निर्देश दे आए हैं कर्ण कि उन गुप्तचरों को लेकर सूचनाएं दें···

अधिरथ ने भीष्म को लेकर अनेक कीर्ति कथाएं सुनाई थीं। कहा था—वत्स ! बड़ा गौरवशाली हैं कुरु-वंश ! पृथ्वी, जल और अग्नि को साक्षी करके भीष्म प्रतिज्ञा करने वाले प्रतापी देवव्रत कौरव-पांडवों के पितामह हैं। वहां विदुर जैसे धर्मात्मा और संजय जैसे नीतिज्ञ मंत्री रहते हैं।" उन्होंने धृतराष्ट्र के अंधत्व का भी चर्चा किया था और यह भी बतलाया था कि राजा धृतराष्ट्र अविश्वसनीय कांतिमय शरीर और बल वाले व्यक्ति हैं !"

कर्ण को उन सबकी जानकारी पाकर आनन्द हुआ। लगता था कि कुरु-जांगल देश का हर पात्र एक विस्मय कथा अपने साथ जोड़े हुए हैं। किसी बार व्यक्ति की कथा, किसी बार शक्ति की कथा···उन कथाओं के अनेक नायक-नायिकाएं और हर नायक-नायिका की एक कथा !

राह सुविधा से कटी। हस्तिनापुर पहुंचते-पहुंचते अधिरथ ने कर्ण के सामने एक तरह से सम्पूर्ण कुरु-जांगल राज्य और राज-परिवार का चित्र खींच दिया था। कर्ण ने काफी कुछ सुना-जाना···

जितना शेष रहेगा—हस्तिनापुर पहुंचकर सुन-समझ लेंगे !

अधिरथ राज-दरबार में उपस्थित हुए। अपने हस्तिनापुर आगमन का कारण कह सुनाया।

सुनकर धृतराष्ट्र ने प्रसन्नता व्यक्त की। बोले—"मित्र! मैं आचार्य तक तुम्हारी प्रार्थना आज ही पहुंचाए देता हूं। कल प्रातः तुम उनकी सेवा में उपस्थित होकर निवेदन करना ताकि वे तुम्हारे पुत्र को अपना शिष्य बनाएं।"

"मैं धन्य हुआ, महाराज!" अधिरथ ने श्रद्धा से प्रणाम किया। लौट आए।

अगली प्रातः कर्ण को लेकर वह आचार्य के सामने थे। पिता-पुत्र ने सादर दंडवत् करके इच्छा-निवेदन किया। अधिरथ ने क्या कुछ, किस तरह कहा था—कर्ण नहीं सुन सके। दृष्टि में श्रद्धा और कौतूहल लिए हुए युद्धज्ञ द्रोणाचार्य को देखे जा रहे थे···आचार्य द्रोण के अद्भुत शस्त्र-ज्ञान की अनेक कहानियां भरत-खंड के कोने-कोने में प्रचलित थीं। लगभग अविश्वसनीय, किन्तु सत्य से पूर्ण!

उन्हीं कहानियों के नायक का दर्शन कर रहे थे कर्ण···दृष्टि आश्चर्य से उन पर टिकी हुई···उनके तेज, रूप और वेशभूषा को रेशे-रेशे देखने-पहचानने की चेष्टा करती हुई···

अधिरथ बोले—'आचार्य! आप साक्षात् ज्ञान हैं। आपकी एक कृपादृष्टि मेरे पुत्र का जीवन धन्य कर सकती है। इसीलिए आपके चरणों में इसे ले आया हूं···शिष्यत्व प्रदान कर मुझे अनुग्रहीत करें!"

द्रोणाचार्य की पलकें उठीं—कर्ण के चेहरे पर जा ठहरीं। कर्ण को स्मरण नहीं कि क्या था उन आंखों में, पर इतना याद है कि आचार्य कुछ पलों तक निःशब्द उसे देखते रहे थे···ऐसे, जैसे कर्ण के हर पोर का मुआयना कर रहे हों! मन-मस्तिष्क को दृष्टि-तरंगों की अंगुलियों से खखोल रहे हों···चुप थे वे।

कर्ण ने आचार्य को पहली बार इतने पास से देखा था, पर अधिरथ चिन्तित—जन-उत्सव में कर्ण ने जो अस्त्र-प्रदर्शन किया था—उसने उन पर क्या प्रतिक्रिया की होगी—समझ पाना कठिन।

आचार्य द्रोण ने उस सबकी तनिक भी चर्चा नहीं की। न ही दृष्टि से

ऐसा कुछ प्रकट होने दिया था कि उनके मन में जो है—वह देखा-समझा जा सके !

अधिरथ और कर्ण ने एक-दूसरे को देखा। मन अकुलाहट से भरा हुआ। पता नहीं द्रोणाचार्य क्या कहें ? प्रार्थना स्वीकारें या अस्वीकार दें ? फिर दोनों ही याचक भाव से आचार्य को देखने लगे।

युद्धाचार्य उठे। वृद्धावस्था के बावजूद उनका शरीर गठा हुआ था। दृष्टि में युवाओं से कहीं अधिक चमक कौंध रही थी। बोले—"आश्वस्त हो, अधिरथ ! मैं तुम्हारे पुत्र की योग्यता परीक्षा करूंगा···कल, सूर्योदय के साथ ही इसे मेरे पास भेज देना !"

कर्ण की योग्यता परीक्षा ! अधिरथ के मन में दुविधा जागी—कर्ण उस परीक्षा को पार कर सकेगा या नहीं—डर लगा। किन्तु कर्ण विश्वस्त था। मन ने उसी पल कह दिया था—'वृष ! तू अवश्य ही यह परीक्षा उत्तीर्ण करेगा ! तेरा गुण-कौशल देखकर आचार्य तुझे शिष्यत्व प्रदान करेंगे—प्रसन्न होंगे !"

अधिरथ और कर्ण ने पुनः आचार्य को दंडवत् किया—लौट पड़े। दूसरे दिन अधिरथ प्रसन्न-मन चम्पानगरी वापस हुए। कर्ण ने योग्यता-परीक्षा में स्वयं को शिष्यत्व के योग्य प्रमाणित कर दिया था।

सिद्धि और साधना का एक लम्बा क्रम कर्ण के जीवन में प्रारम्भ हो गया था। आचार्य से विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान और उनकी संचालन -विधि कर्ण ने सीखी थीं···किन्तु यहीं कहीं कर्ण के भीतर वह विष-बीज पड़ गया था, जिसे इर्द-गिर्द के वातावरण व्यवहार और सम्बोधन ने 'सूतपुत्र' नाम के साथ अंकुराया···

आचार्य द्रोण के व्यवहार और शिक्षा के समय दृष्टि ही नहीं कटुता-पूर्ण व्यवहार ने कर्ण के मन में धीमे-धीमे उच्च वर्ण के प्रति जड़ लेती जा रही घृणा को मजबूत करना प्रारम्भ कर दिया था···कभी सुना था माता राधा से कि मनुष्य के गुण और योग्यता ही उसके जाति-कुल नियामक होते हैं। किन्तु कर्ण ने जीवन में हर पल और हर कदम के साथ इस तर्क के खोखलापन को देखा···गहराई तक पहचाना कि जो कुछ ज्ञानी सुनाते हैं, और ऋषिगण कहते हैं—वह सत्य में कहीं नहीं है ! जो है, वह केवल कटु है ! निर्ममता से भरा हुआ !

हर बार शिव की तरह सामाजिक अवहेलना का हलाहल पान करते रहे थे कर्ण ! हर बार आस-पास के समाज-व्यवहार से 'सूतपुत्र' शब्द उछलता और कर्ण को लगता कि विष का कोई घूंट जबरदस्ती ही समाज ने उनके गले में उंडेल दिया है···जी होता कि चीखे, उत्तर में उस चेहरे को ही मिटा डालें जिसने वह सम्बोधन उछाला है·· पर तभी बुद्धि थाम लिया करती—"नहीं, वृष ! यह उचित अवसर नहीं है ! इस दोषी

व्यवस्था को दंड अवश्य मिलना चाहिए, किन्तु उद्दंडता से नहीं—कूट-नीति से ! तुम्हें यदि इस सबका उत्तर बनना है, तब धैर्य रखना होगा !"

जबड़े कसते मुट्ठियां भिचतीं, फिर धीमे-धीमे जहर पचा लिया जाता। पचाने के प्रयत्न में सन्तुलन की कोई एक सीढ़ी मन के भीतर से टूट जाती।

सूर्योदय से बहुत पहले वसुषेण आचार्य के आदेशानुसार आश्रम व्यवस्था और सेवाकार्य में जुट जाते। साधना भी उसी बीच चलती और रात हुए जब तक काम से मुक्ति मिलती तब तक बदन थककर चकनाचूर हो चुका होता···अपने कक्ष में आकर लेटते ही किस पल सारे होशोहवास को लोरी देकर निद्रा सुला देती —मालूम ही न होता। ऐसी ही एक रात की बात है···

पलकें झपकी ही थीं वसुषेण ने कि द्वार पर आहट हुई···चौंककर पलकें खोल दीं, स्वर निकला—"कौन ?"

"मैं—मैं शत्रुन्तप हूं, भइया !" उत्तर में फुसफुसाहट उभरी।

वसुषेण तुरंत उठे। द्वार खोला, पूछा—"कब आया तू ?"

"मैं तो प्रारंभ से ही यहीं हूं, भइया।" शत्रुन्तप ने उत्तर दिया। एक ओर बैठ रहा।

"यहीं ? —हस्तिनापुर में ?" कर्ण चकित हुए।

"हां।" शत्रुन्तप ने बतलाया—"सत्यक् और सम्यक् चम्पानगरी से सीधे यहीं आए हैं—वे कुन्तिदेश नहीं गये।"

कर्ण चकित हुए, पूछा—"ऐसा क्यों ?"

"सब सुनाता हूं।" कहकर शत्रुन्तप ने बतलाना प्रारंभ किया। कहा—"यह तो सच है भइया कि वे दोनों कुन्तिदेश के निवासी हैं, किन्तु

अब वे कुन्तिदेश में नहीं रहते और न ही वे व्यापारी हैं।"

आश्चर्य से कर्ण सुनते जा रहे थे। शत्रुन्तप ने आगे बतलाया था—"वे गुप्तचर हैं, और महारानी कुन्ती के विशेष सेवक हैं। देवी कुन्ती की विशिष्ट दासी समीची से अक्सर मिलते-जुलते रहते हैं। मुझे लगता है कि समीची ही उन्हें कार्य-निर्देश देती है और उसी के अनुसार वे कार्य करते हैं। यदा-कदा समीची भी उनसे मिलती-जुलती रहती हैं।"

कर्ण के माथे पर बल पड़े। जो सुना, वह जितना आश्चर्यजनक था उससे कहीं अधिक कौतूहल जगानेवाला ? मन में कई प्रश्न खड़े हो रहे—"सत्यक् और सम्यक् कर्ण को लेकर इतनी रुचि क्यों लेते रहे हैं ? क्या कारण है कि दोनों ही गुप्तचर कुन्तिदेश के हैं और पांडवजननी कुन्ती के साथ-साथ हस्तिनापुर आ पहुंचे हैं ?" पर कुछ कहा नहीं था।

शत्रुन्तप अगले आदेश की प्रतीक्षा में खड़ा था। कर्ण ने उसे विश्राम करने के लिए कहा और सोच विचार की गुत्थियों में उलझ गए···

हर बार माथा-पच्ची से एक नतीजा निकलता था। कर्ण को लेकर बरसों से चल रही गुप्तचरी 'यूं ही' नहीं हो सकती थी। निश्चय ही उसका कोई गहरा और गंभीर मतलब होगा।

गुरुकुल से बाहर यहां-वहां घूमने का अधिक समय नहीं मिल पाता था। साधना-समय और कार्यक्रम इस तरह गसें-कसे हुए थे कि कर्ण बहुत व्यस्त रहते। एक बार सोचा था कि शत्रुन्तप को ही जिम्मेदारी सौंप दें—'सत्यक् और सम्यक् पर गुप्तचरी करो!' किन्तु फिर लगा था कि उचित नहीं है। मामला जिस तरह उलझा हुआ लग रहा था, उससे प्रकट था कि या तो कर्ण किसी राजकारण से जुड़े हैं या फिर किसी ऊंचे कुल-वंश की मान-मर्यादा से उनका सम्बन्ध है! एक संशय मन में घुमड़ने लगा था··· इस संशय के साथ-साथ एक निश्चित विचार भी—"तुम्हारे जन्म और जीवन का रहस्य इसी सबसे कहीं जुड़ा है, कर्ण! कुछ ऐसा सत्य है जो चम्पानगरी, कुन्तिभोज और हस्तिनापुर के बीच कहीं गुमा हुआ है··· सत्यक् और सम्यक् ही अकेले सूत्र हैं उसके। इन्हीं सूत्रों से जुड़कर रहस्य ज्ञात करना होगा! देवी कुन्ती और उनकी दासी का भी सारे मामले से कोई-न-कोई सम्बन्ध हो सकता है!"

शत्रुन्तप की सूचना से इसी तरह तार जोड़े थे। इन्हीं तारों के उलझाव को सुलझाने की चेष्टा में अधिकतर समय बीत जाया करता।

पर लगता था कि केवल विचारों और कल्पनाओं के सहारे उलझाव सुलझा पाना असंभव !

तभी एक ऐसी घटना हुई थी, जिसने अनायास ही सही पर सुलझाव की राह खोल दी। कब सोचा था कि यह घटना इस तरह घटेगी और कर्ण अनायास ही जीवन की जटिलतम गुत्थी के सुलझाव का सूत्र पा जायेंगे ?

सत्यक् और सम्यक् पर गुप्तचरी करके पता करना चाहते थे; पर गुरु द्रोण के गुरुकुल से समय नहीं मिलता था। विचरण की, स्वीकृति मिल सकती है, यह सोच पाना भी कठिन था ! आचार्य के कठोर स्वभाव को कुछ ही दिनों में समझ लिया था कर्ण ने। इच्छा कृपाचार्य से व्यक्त की थी। सोचा था कि कृपाचार्य की सहायता से संभवतः कुछ समय का अवकाश पा जायें···बोले थे—"द्विजश्रेष्ठ ! आचार्य की कृपा और स्नेह से मुझे भी राजपुत्रों की तरह ही शस्त्र शिक्षा मिल रही है···किन्तु कभी-कभी मन होता कि थोड़े समय के लिए यहां-वहां विचरण करूं ? महान् कुरु-जांगल देश की इस सुन्दर और वैभवपूर्ण राजधानी को देखूं ? क्या गुरदेव इसकी आज्ञा दे सकेंगे ?"

कृपाचार्य सरल थे—जितने दुष्कर योद्धा, उतने ही सरल व्यक्ति। स्वभाव से शान्तिप्रिय और एकांतप्रेमी। कर्ण की योग्यता पर जितने स्नेहाकुल, उससे कहीं अधिक उसकी क्षमता से प्रसन्न। कभी-कभी उन्हें लगता था कि आचार्य द्रोण कुरु-पांडव कुमारों को युद्धज्ञान देते-देते सामान्य शिष्यों की अवहेलना कर देते हैं। बहनोई का यह स्वभाव कृपाचार्य को अच्छा नहीं लगता था, पर व्यर्थ बहस करना उन्हें अरुचिकर था। सोचते और टाल जाते···कर्ण का प्रश्न सुनकर कहा था—"कह नहीं सकता, राधेय ! स्वभावतः गुरु बहुत अनुशासन प्रिय हैं। प्रार्थना अवश्य सुनेंगे, किन्तु किसी भी प्रार्थना की पूर्ति के लिए शस्त्रशाला का नियम वे शायद ही तोड़ें।"

कर्ण निराश हो रहे···

कृपाचार्य सहानुभूति से कुछ पल उन्हें देखते रहे, फिर गहरा श्वास लेकर मुंह फिरा लिया।

कर्ण ने समझ लिया था कि जब तक आचार्य द्रोण के आश्रम में हैं, तब तक इसी तरह घुटते रहना होगा। चुपचाप सेवा में जुट गए। प्रतिदिन की तरह उस दिन भी उन्हें गुरुकुल के उद्यान में जल देना था।

शान्त भाव से बैठे हुए कृपाचार्य कर्ण को देख रहे थे। गुरुकुल का यह हिस्सा उन्हें बहुत भाता था। अक्सर पेड़ तले आकर बैठ जाया करते और पंछियों की चहचहाहट सुना करते···आज समय से पहले आ गए थे, सो कर्ण से भेंट हो गई···कर्ण दूर चम्पानगरी निवासी हैं और हस्तिनापुर समूचे भरतखंड का आकर्षण···भव्य राजमहल, राजमार्ग, उद्यान और ग्रंथालय···कितने ही स्थान थे, जिन्हें देखने की इच्छा किसी के भी मन में आना स्वाभाविक थी। कृपाचार्य को राधापुत्र की बेबसी पर पीड़ा हुई··· टकटकी लगाये हुए बेबस भाव से कर्ण को पौधों में डालते देखे जा रहे थे।

जल सिंचन के साथ-साथ कर्ण किसी-किसी पौधे की साज-संवार भी करते। बीच में रह-रहकर ढलते सूर्य को देखते जाते। कृपाचार्य को मालूम था कि कर्ण सूर्याराधक हैं। सूर्यास्त से कुछ समय पूर्व उन्हें ध्यानस्थ होना था।

कर्ण जल्दी-जल्दी कार्य से निवृत्त हुए, फिर एक ओर जाकर स्नान किया···कृपाचार्य चौंके—"विचित्र !" अनायास ही बुदबुदा उठे। उत्सुकता और आश्चर्य से रहा नहीं गया, तो स्नान करते हुए कर्ण के करीब जा खड़े हुए। दृष्टि कर्ण के पैरों पर टिकी हुई···आश्चर्य गहराता हुआ···बड़बड़ाये—"विचित्र संयोग है, राधापुत्र !"

पात्र से सिर पर जल डालते-डालते कर्ण थमे, चकित होकर पूछा—"क्या हुआ ब्रह्मन ?"

"तुम्हारे पैर···!" कृपाचार्य बुदबुदाए। उनके माथे पर अब भी अचरज और अविश्वास के बल पड़े हुए थे—"अद्भुत बात है राधापुत्र ! तुम्हारे पैर देखकर मुझे लगा कि मैं देवी कुन्ती के पैर देख रहा हूं···इतनी

समानता ? ऐसा विलक्षण मेल ?"[1]

कर्ण ने सुना। पात्र से जल नहीं गिराया जा सका। उसे धरती पर वापस रखकर कृपाचार्य को देखने लगे। इस तरह जैसे कृपाचार्य बड़बड़ाए न हों, उन्होंने कर्ण के सीने और माथे पर इतनी जोर से प्रहार कर दिया हो कि समूचा मन-शरीर हिल जाए! स्मरण-शक्ति सहेजकर कृपाचार्य के कुछ पल पूर्व कहे गए शब्द ज्यों-के-त्यों मन में उतार लिए…"तुम्हारे पैर देखकर मुझे लगा है कि मैं देवी कुन्ती के पैर देख रहा हूं! इतनी समानता ? ऐसा विलक्षण मेल ?"

कृपाचार्य चुप थे। दृष्टि में विस्मय और वह विस्मय कर्ण के पैरों में जकड़ा हुआ…

और कर्ण ? चुप किन्तु बाढ़ की शक्ति से बहे शब्दों के सामने अपने आपको सम्हाले हुए…

वह दिन ?

लगता है उसी दिन जन्म हुआ था कर्ण का! कम-से-कम कर्ण के लिए उनका वही दिन जन्म दिन है!

कृपाचार्य के 'यूं ही' के भाव से कहे गए उन शब्दों ने रहस्य-सूत्र दे दिया था कर्ण को। उस पल बड़ी कठिनाई से भावावेग थाम सके। जल्दी-जल्दी स्नान करके, मन की उथल-पुथल से भरे हुए, गंगा तट की ओर चले। कितनी बार राह में ठोकर लगी, कितनी बार लड़खड़ाए—याद

१. महाभारत (शान्तिपर्व) के प्रथम अध्याय में नारद—युधिष्ठिर संवाद के दौरान युधिष्ठिर कहते हैं—"…कुन्ती के परों के समान कर्ण के पैर थे, इस समानता का कारण जानने की इच्छा रखता हुआ भी मैं किसी तरह पता नहीं लगा सका… (कि वैसा क्यों है)" श्लोक-क्रम—४० पर।

नहीं। केवल इतना याद है कि उस दिन, और दिनों की तरह सहज नहीं रह पा रहे थे कर्ण !···

लगता था कि कृपाचार्य के शब्द दिशाओं में ही नहीं घुल गए हैं, कर्ण के मन और मानस के बीच अनुमान एक सेतु बनकर ठहर गए हैं···इस सेतु पर चल रही है कर्ण की विचार-यात्रा !···

घटनाओं के टूटे-बिखरे अनेक तार जोड़-जोड़कर यह सेतु बंध रहा है···कर्ण के चम्पानगरी पहुंचने के समय से ही सत्यक् और सम्यक् निरंतर वहां पहुंचते रहे हैं। कर्ण को लेकर सूचनाएं पाते रहे। दोनों व्यापारी नहीं, गुप्तचर हैं। ये गुप्तचर कुन्तिभोज के देशवासी हैं। और कुन्तिभोज की बेटी हैं, देवी कुन्ती। प्रतापी कुरुवंश की रानी। वीर पांडवों की माता।···सत्यक् और सम्यक्, कुन्तिदेश से कुन्ती के हस्तिनापुर आने के साथ-साथ हस्तिनापुर चले आए हैं। वे अब भी कर्ण पर गुप्तचरी करते रहे हैं···

"ये सारे टूटे-बिखरे सूत्र कहां किस तरह जुड़ते हैं ?" कर्ण ने अपने से ही सवाल किया था और जवाब बने थे कृपाचार्य के शब्द—वे शब्द, जो सहज भाव से ही सही पर एक असहज सत्य का उद्घाटन कर गए थे !

"तब क्या कुन्ती के बेटे हैं कर्ण ?" प्रश्न बनकर एक बेचैन छटपटाहट अपने आपसे पूछने लगी थी।

"···?" उत्तर नहीं। पर नकार भी नहीं।

"यदि कर्ण, कुन्ती के बेटे नहीं हैं, तब उनके पैर देखकर कृपाचार्य को कुन्ती के पैरों को देखने की बात कैसे सूझी ?

उत्तर नहीं।

"और कर्ण तथा कुन्ती के चरणों में इतनी समानता क्यों है ?···क्या ऐसी समानता केवल संयोग से हो सकती है ?"

चुप।

सवाल चीखें बनने लगे थे। उस समय भी चीखें ही बने रहे थे, जिस समय कर्ण सूर्यास्त के सुनहरे तेज से जुड़ने की चेष्टा कर रहे थे···

पर व्यर्थ हुई वह चेष्टा। मन व्यग्र ! सब ओर कृपाचार्य के शब्द घुले

हुए हैं ! गूंजते और फिर तीव्र चीत्कार बनते जाते शब्द !

इन शब्दों से कहीं अधिक कर्ण के अपने भीतर उठे प्रश्न—"क्यों हैं उनके और कुन्ती के पैर समान ? यदि यह संयोग है तब सम्यक् और सत्यक् का कर्ण की बाल्यावस्था के साथ उन पर जासूसी करते रहना भी क्या मात्र संयोग ही है ?

नहीं ! बिलकुल नहीं !

तब ?

तब—कर्ण, संभवतः कुन्ती के पुत्र हैं ! सूतपुत्र नहीं !

सूर्याराधन में जुड़े हाथ रह-रहकर कांप उठते। स्वभाव के विपरीत मन शांत न रहकर इस तरह उछलता जैसे किसी चट्टान से किसी और बड़ी चट्टान पर झर रहा हो—झरने की तरह ! बूंद-बूंद बनकर उछलता, सिर धुनता हुआ !

क्या है सत्य ?···सत्य ?···और केवल सत्य ?···

कभी कुछ नहीं चाहा अपने इष्टदेव से, पर उस दिन बड़बड़ाते हुए कर्ण मांगने लगे थे "मुझे बतलाइए देव ! पांडवजननी कुन्ती और मेरे पैरों में इतनी समानता क्यों है ?"

सूर्य—सुनहरी चादर ओढ़े हुए शांत भाव से धीमे-धीमे—दृष्टि से दूर, दूरंत यात्रा करते हुए···

कर्ण की याचना नहीं सुनी थी उन्होंने। दोनों हाथ बांधे हुए कमर तक जल में समाए कर्ण टकटकी बांधे हुए तेजेश्वर की विश्राम-यात्रा का वह सुन्दर दृश्य देखते रहे स्वर नहीं निकला था उनके मुंह से, किन्तु मन बार-बार याचना करता हुआ—"देव ! यह कैसा रहस्य है ? कैसा संयोग ?···या कैसा सत्य ?···मुझे बतलाइए, महात्मन् ? क्या है इस सबका अर्थ ? क्या मैं कुन्ती का पुत्र हूं !···क्या पराक्रमी अर्जुन, गदाधारी भीमसेन और ज्ञानी युधिष्ठिर मेरे भाई हैं ?···उत्तर दीजिए, मेरे आराध्य ? मुझे बतलाइए ?"

पर सूर्य ने कुछ भी नहीं सुना। सुना भी तो उत्तर नहीं दिया। छटपटाते हुए कर्ण को उसी तरह याचना में खड़ा छोड़ गए !

कर्ण को या एक प्रश्न को ?

सूर्यास्त हुआ। कर्ण ने श्लोकोच्चारण किये—गंगा से बाहर आये। गुरुकुल की ओर चल पड़े। जबड़े कस रखे थे। एक कठोर—वज्र निश्चय मन में था। एक विश्वास—"एक-न-एक दिन आपको उत्तर देना ही होगा, सूर्यदेव ! आपको बतलाना होगा कि महाराज कुन्तिभोज की पुत्री और मुझ सूतपुत्र के बीच कौन-सा रहस्य-सूत्र जुड़ा हुआ है ?"

गहरी उथल-पुथल से भरे कर्ण गुरुकुल में भी व्यग्र ही रहे। मन होता था कि एकान्त पाते ही कृपाचार्य से बात करें ?…इस बीच मन में बहुत-से प्रश्न उभर आए थे—जो कृपाचार्य से उस समय पूछ-जान नहीं सके।

रात्रि तक अवसर ही नहीं मिला था—रात्रि को भी नहीं। उस रात्रि तो वही व्यग्रता लिये कर्ण अपने-आपसे जूझते रहे। आज तक स्मरण है—कितनी-कितनी बार उठकर उस रात अपने पैर नहीं देखने लगे थे ?…ये पैर पांडवजननी कुन्ती से मिलते हैं ?…कृपाचार्य के अनुसार विलक्षण मेल है कर्ण और कुन्ती के पैरों में ?…अद्‌भुत समानता ?…

पलकों के भीतर हलकी-हलकी जलन होने लगी है…ठीक तरह सो न पाने की जलन है या भोर के साथ ही कौरव-सेना का सेनापतित्व संभालने की बेचैनी—निश्चित करना कठिन है !

कर्ण की दृष्टि, एकांत शिविर में इधर-उधर के भटकाव से मुड़कर एक निश्चित जगह पर जा ठहरी है—अपने ही पैरों पर !

लगा कि आंखों में, पुतलियों और पलकों के बीच कोई चीज जल रही है—वह जो नींद या आगत की जिम्मेदारी नहीं, बल्कि उनकी अपनी पीड़ा है। पीड़ा जो व्यक्त हो तो रोष बन जाती है, अव्यक्त रहे तो आंसू !

लगा था कि जोर से चीखकर कोई कह उठा है—"प्रतापी वैकर्तन ! तुममें और आंसुओं में तो कभी कोई रिश्ता नहीं रहा फिर ये आंसू क्यों ?"

और इस चीखते प्रश्न के साथ ही उससे कहीं ज्यादा तीखी चीख बनकर उत्तर गूंजने लगा था उनके अपने भीतर से—"झूठ बात है ! सच तो सिर्फ यह है कि सारे जीवन मुझसे यदि किसीका कोई रिश्ता, कोई रक्त-सम्बन्ध, कोई जुड़ाव रहा तो वे सिर्फ आंसू ही हैं ! ये आंसू ही हैं जो कर्ण के सखा रहे ? इन आंसुओं के साथ ही कर्ण ने सब कुछ सोचा और इन आंसुओं से जुड़कर ही कर्ण ने हर जीवन-निर्णय लिया !"

"संभवत: तभी तुमने जीवन-भर केवल गलत सोचा·· गलत निर्णय लिया !" प्रश्न फिर से उभरता है—"ठीक भी है—दृश्य और दृष्टि के बीच आंसुओं का परदा डालकर देखना-सोचना गलत के अतिरिक्त हो ही क्या सकता था ?·· वही हुआ !"

"किन्तु···" कर्ण ने एकांत को तोड़कर बुदबुदाना चाहा है। अपने भीतर सदा ही उद्दंड भाव से—दोष मढ़ते रहे अपने ही आत्म को।··· उत्तर देना चाहते है किन्तु—शब्द नहीं मिलते। कोई तर्क भी नहीं। अनजाने ही कर्ण मुलायम पैरों को सहलाने लगे ·· इतनी तेज-तेज सहलाहट कि तलवे जल उठें।

जब-जब आत्म जागृत होता है, तब-तब इसी तरह बेचैन कर देता है उन्हें। और आज जब आत्म और कर्ण के साक्षात्कार का संभवत: जीवन में यही समय शेष बचा है तब वह ज्यादा ही बेचैन हैं।

मन हुआ था कि सदा की तरह इस आत्ममंथन और उत्तर-प्रत्युत्तर से कतरा जाएं, या फिर अपने आत्मबल से उन्हें दबोच डालें, किन्तु लगा कि अब यह करना ठीक न होगा।···इस सबको अपने भीतर घोंटे हुए इस अन्तिम युद्ध को किस तरह लड़ सकेंगे मृत्युंजय ? मृत्युंजयी कर्ण भला अपने ही भीतर परास्त कैसे हो जाएंगे ? उन्हें उत्तर खोजना होगा ! फिर अपने उत्तर को युग-सत्य के माथे पर इस तरह अंकित कर देना होगा कि वह सूर्य-भाव से ही युग-युग तक सदा-सर्वदा चेतावनी देता रहे ! अखंड ज्योति की तरह !

···ये पैर ?···लगा था कि तलवा सहलाती हथेली हौले-हौले उस विगत सत्य को ही सहलाने लगी है, जब कर्ण को अपने जीवन का सबसे बड़ा रहस्य ज्ञात हुआ था !···और उस रहस्य की पर्त-पर्त पर प्रमाण

की मोहर लगाई थी स्वयं सूर्य ने !

उस दिन भी इसी तरह अपने तलवे सहलाते कर्ण सारी रात व्यग्र रहे थे। अन्तर केवल यह है कि आज की तरह आत्ममंथन का दौर नहीं था। न ही कोई आत्मसंघर्ष ! उस दिन थी एक व्यग्र चेष्टा ! यह जानने की चेष्टा कि कुन्ती के पैरों से कर्ण के पैर क्यों मिलते हैं ?

जो स्थितियां थीं, उनमें यह स्वाभाविक, सहज या संयोग मात्र नहीं लगता था ! लगता था कि सब कुछ तारतम्य में हैं···अलग-अलग दीखता हुआ, किन्तु अदृश्य ढंग से परस्पर जुड़ा हुआ !

उस सारी रात जागते रहे थे कर्ण। कुछ पलों के लिए पलकें झपकतीं, फिर हलकी-सी आहट या हवा के झोंके से खुल जातीं ! पलकें खुलते ही कृपाचार्य के शब्द कानों में गूंजने लगते ! अन्धकार के बावजूद वे आंखें दीखने लगतीं जो कृपाचार्य की थीं—अतीव कौतूहल और अविश्वास से कर्ण के पैरों पर जड़ी आंखें !

कितना अच्छा होता कि किसी तरह देवी कुन्ती के दर्शन कर सकते ? कर्ण ने उस रात यही सोचा था। फिर सोचा था कि कभी दर्शन करेंगे और गौर से स्वयं ही पांडवजननी के पैरों को देखेंगे···अपने पैरों से उन्हें मिलाएंगे ? समानता-असमानता का विचार करेंगे, किन्तु लगा था कि वह सब दूर की बात है !

वह सब कर पाना इस समय असंभव ! यों भी, सूतपुत्र कहे जानेवाले कर्ण को रनिवास तक पहुंचने की सुविधा किस तरह मिल सकेगी ? अब तक इतनी समाज-स्थिति नहीं बना सके हैं कर्ण ! जो कुछ हो रहा है, केवल उस समाज-शक्ति और स्थिति को पाने का प्रयास भर है—मात्र पहला चरण !

ऐसे कई चरण पार करने होंगे—कुरु-राजरानी कुन्ती देवी तक पहुंचने के लिए। जब तक यह करेंगे तब तक कृपाचार्य के शब्द मन को छलनी कर डालेंगे! कुलबुलाते रहस्य को तार-तार कर डालने की व्यग्र कामना इस सारे समय कर्ण को उनके अपने ही भीतर आहत करती रहेगी!

कितनी करवटें बदलीं—याद नहीं है।

याद है सिर्फ इतना कि अगली सुबह के साथ ही एक बार पुनः कृपाचार्य की खोज आरंभ कर दी थी··· इस खोज में उत्साह था—उससे कहीं अधिक आनंद। कर्ण यदि कुन्ती के ही पुत्र हुए तब यह सत्य जानकर कितना आनन्द मिलेगा उन्हें···? बस, एक ही बात का दुःख रहेगा। माता से मिलते ही प्रश्न करेंगे—"तुमने मुझे इस तरह बिसरा क्यों दिया माता? मेरा दोष क्या था?"

क्या उत्तर पाएंगे—नहीं जानते। पर यह सोचकर प्रसन्न थे कि उत्तर अवश्य ही मिलेगा। सत्य जानने के बाद जैसे भी होगा, कर्ण माता से भेंट करने की चेष्टा करेंगे!

सूर्य नमन् के पश्चात् गुरुकुल के कार्य में जुटे रहे। कृपाचार्य से भेंट के लिए एकांत अवसर की खोज भी चलती रही···और फिर वह अवसर मिला। कर्ण तुरन्त कृपाचार्य के सामने जा खड़े हुए—"ब्रह्मन?"

स्वभावतः शान्त बैठे कृपाचार्य प्रकृति-दृश्यों में खोये हुए थे। कर्ण को सामने पाकर मुसकराए। कहा—"बैठो, राधेय!"

कर्ण एक निश्चित दूरी बनाकर बैठ रहे। कृपाचार्य ब्राह्मण थे, तिस पर गुरु द्रोणाचार्य के साले। अस्त्र-शस्त्रों की कुशल संचालन योग्यता के साथ-साथ सहज ब्रह्मज्ञान भी था उनके पास। कर्ण ने स्वर में विनम्रता घोली, मिठास जोड़ी। पूछा, "देव! कल आपने जिस विचित्र संयोग का चर्चा किया था, उसे लेकर मैं भी कम चकित नहीं हूं? क्या सचमुच ही मेरे पैर महारानी कुन्ती देवी के पैरों-जैसे हैं?"

कृपाचार्य की दृष्टि पुनः कर्ण के पैरों पर जा ठहरी। बोले—"हां सूतपुत्र! पांडवजननी कुन्ती के और तुम्हारे पैरों में विलक्षण समानता है···"

"कैसे हैं उनके पैर?" उत्सुकता से कर्ण ने भावुक स्वर में प्रश्न

किया।

कृपाचार्य हंसे—"कह तो चुका हूं—बिलकुल तुम-जैसे !"

कर्ण समझ नहीं पा रहे थे, कि क्या पूछें और किस तरह पूछें ? बस, लग रहा था कि पूछना चाहिए। इस विषय पर अपरोक्ष रूप से बात करके भी विचित्र प्रकार का आनंद अनुभव हो रहा था उन्हें। प्रश्न किया, "क्या बहुत कोमल पैर हैं उनके ?···छोटे-छोटे और सुन्दर ?"

कृपाचार्य ने कुछ चिढ़कर कर्ण को देखा। कहा—"इससे अधिक क्या कह सकता हूं, राधा पुत्र ? क्या तुम अपने पैरों का सौन्दर्य, सुगठन और सुकुमारता नहीं देख पा रहे हो ?···"

एक बार फिर से कर्ण का प्रश्न वहीं आकर ठहर गया था, जहां से प्रारंभ हुआ था। बात बढ़ाने के लिए प्रश्न किया, "और · और आपने देवी कुन्ती के पैर कैसे देख लिए द्विजवर ?"

कृपाचार्य ने वह घटना कह सुनाई।

कहा—"यह तब की बात है वसुषेण, जब महारानी कुन्ती शतशृंग पर्वतमालाओं से अपने पांचों पुत्रों सहित लौटी थीं। ··"

कर्ण इस तरह सुनने लगे थे जैसे किसी पवित्र आख्यान को सुन रहे हों। सम्पूर्ण निष्ठा और ध्यान जोड़े हुए।

कृपाचार्य कहे गए—"महाराज पान्डु अकालमृत्यु को प्राप्त हुए थे। कुन्ती और माद्री विधवा हुईं। माद्री ने तो पति के साथ सती होना निश्चित किया, किन्तु छोटे-छोटे बच्चों के शुभार्थ कुन्ती को पतिगृह लौटना पड़ा।··· यहीं—हस्तिनापुर में—जब कुछ ऋषियों की सहायता से कुन्ती अपने पुत्रों युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के साथ आईं, तब यात्रा की थकान और मार्ग के कष्टों से बहुत व्यथित और क्लांत थीं···राजमहल में प्रवेश के समय दासियों ने उनके चरण धुलाए···वे चरण मुझे अब तक याद हैं। कोमल, सुन्दर और राजसी चरण···मार्ग की जटिल ऊंचाई-नीचाइयों को पार करते हुए तपस्विनी कुन्ती देवी के उन सुन्दर पैरों पर अनेक छाले पड़ गए थे···दासियां देर तक महारानी के पैर धुलाती रही थीं और पैरों की वही छवि मेरे मन-मस्तिष्क में अंकित है···कल, जब अनायास ही तुम्हारे पैरों पर मेरी दृष्टि गई तब मुझे वही दृश्य याद हो

आया···दृश्य इसलिए और प्रभावी हुआ, क्योंकि तुम्हारे और उनके पैरों में मैंने अद्भुत समानता देखी···" सहसा कृपाचार्य चुप हो रहे।

कर्ण भी चुप, किन्तु आनन्द से भरे हुए। मन में जनमा यह विचार ज्यादा ही गहरा हो गया था कि वह अवश्य ही कुन्तीपुत्र हैं !

इस विचार ने नये-नये विचारों से जोड़ा था उन्हें।

कैसी होंगी कुन्ती ?

बहुत नाम-यश सुना था उनका। उससे कहीं अधिक उनके व्यवहार, शालीनता, चरित्र और गुणों का चर्चा।

कभी-कभी इस विचार को मन का विरोधी भाव आहत भी करता—एक आवाज उठ आती—"कहीं ऐसा न हो कि यह कल्पना-सुख टूट जाए और तुम्हारे जीवन का रहस्य कुछ और ही निकल पड़े वसुषेण ?··अच्छा होगा कि सत्य तक पहुंचने के पूर्व इस तरह की भावुक, कोमल और मार्मिक कल्पनाएं मन में न संजोओ ?"

पर मन ही था जो नहीं मानता। कुन्ती को लेकर अजब-सा लगाव और आकर्षण पैदा हो गया था उनके भीतर !

एक दिन सूर्यास्त के समय प्रार्थना करते हुए न जाने कैसे एक याचना मन में जनम आई थी। याचना से अधिक इच्छा—"दिवाकर ! मेरी इस सुखद कल्पना को तोड़ना मत ! कुन्ती ही मेरी मां निकलें !"

इसके बाद फिर से पिछले दिन की तरह प्रार्थना उभर आई मन में—"मुझे मेरा जीवन-रहस्य बतलाओ देव ! कृपा करो !"

दूसरी बेचैन रात शुरू हुई थी···फिर-फिर कुन्ती को लेकर तरह-तरह की कल्पनाएं करने लगे थे कर्ण ! कैसी होंगी वह ?···कर्ण की संभावित माता !

"संभावित नहीं – निश्चित !" जबड़े कसकर अपने को ही उत्तर दिया था। पलकें मूंद लीं·· इस कल्पना भर से बेचैन मन को बहुत राहत मिलती थी। नींद के एक झोंके ने हौले-से दुलारकर शांत कर दिया था उन्हें।

पलकें नींद में डूबी हुई हैं···सब ओर गहरा अन्धकार।

पर यह क्या ?—इस अन्धकार को अचानक ही ज्योति के एक छोटे-से बिन्दु ने तोड़ दिया है···

बिन्दु फैलता है। फिर दृष्टि के सीमांत तक फैलता ही चला जाता है। ऐसे, जैसे सूर्योदय हुआ हो···

और सूर्योदय का अर्थ होता है—आराध्य देव के सामने होना ! आराधना में जुड़ीं मृत्युंजय कर्ण की पलकें और श्रद्धा की अंजलि ! इस अंजलि से झरता हुआ पवित्र गंगाजल···

माता—शब्द की तरह निर्मल और कोमल ! वह क्षण स्मरण में अब भी इस तरह अंकित है जैसे कल की बात हो।

क्यों न हो अंकित ? कर्ण के जीवन का श्रेष्ठतम है वह। अविस्मरणीय दिवस ! एक तरह से जन्मदिन !

लगा था कि बेचैन हो उठे हैं। युद्ध-शिविर के सन्नाटे से कहीं अधिक बेचैन। सोचते-सोचते ही कब नींद आ गई—मालूम ही नहीं हुआ था··· मालूम तब हुआ, जब अचानक वह दिन याद हो आया···सोये शरीर के जागृत मस्तिष्क ने एक करवट ली और कराह पड़ा···

कराह में एक स्वर—"महावीर वृष ! वह दिन तुम्हारे जीवन का श्रेष्ठ नहीं, निकृष्ट है शायद ! इसीलिए अविस्मरणीय है !"

जन्मदिन नहीं, जन्मदिन का मुखौटा ओढ़े हुए मृत्युदिन !

"कौन ?···कौन है ?" घबराकर जाग गए।

स्वप्न !

शिविर उसी तरह सन्नाटे से भरा हुआ। इस सन्नाटे में युद्ध की याद दिलाती कराहें और यदाकदा रणस्थल का स्मरण कराती चीखें ! भयावह कुरुक्षेत्र युद्ध ने कितनों को न तो जीवित ही रहने दिया है, न पूरी तरह मृत्यु दी है···

चौंककर जाग जाने के बावजूद एक हथेली अब भी पैर पर रखी हुई थी। पैर सहलाते हुए ही कब पलकें लग गईं—मालूम नहीं। पर यह हथेली और ये पैर याद दिला रहे थे कि उस घटना से जुड़े थे, जिसने जीवन-रहस्य जाहिर किया था। यह कि कर्ण—कुन्ती पुत्र हैं !

एक श्वांस लिया। शान्त होकर बैठ रहे···गत-आगत के सोचों का इन्द्रजाल ज्यों-का-त्यों। इसी इन्द्रजाल के दौर में यह भी याद आया कि कुछ समय पूर्व गला चटका था·· प्यास उभरी थी ! अनजाने ही मुड़े और एक ओर रखा डंका हौले से बजा दिया।

अगले ही क्षण शिविर-द्वार पर सेवक उपस्थित हुआ, "आज्ञा महाराज ?"

कर्ण का भारी स्वर उभरा—"जल !"

सेवक ने तुरंत जल ला दिया।

कुछ घूंट गले उतारे—शायद प्यास बुझे—पर लगा कि प्यास तो अनन्त है। सेवक की दृष्टि से चेहरे की असहजता छिपी रहे, अतः पूरा गिलास गले तक उंडेल लिया। कहा, "जा सकते हो !"

अभिवादन में सिर झुकाकर उसने प्रणाम किया—बाहर चला गया।

कुछ व्यर्थता महसूस करते हुए उस ओर देखते रहे, जिधर अभी-अभी सैनिक चला गया था। फिर याद आया कि अपना ही पैर सहलाने लगे हैं ··जब-जब एकांत मिलता था—पलकें मूंदे हुए अपने ही पैरों को सहलाकर कुन्ती के चरणों में होने का सुख लेते थे। अजब-सी तृप्ति मिलती थी इस विचार से कि मां के पैरों के पास तो नही पहुंच सके, किन्तु उनके जैसे पैरों के पास हैं। कृपाचार्य की बात से यह सोचकर सुखी हुए थे कि किसी दिन महारानी कुन्तीदेवी के पास पहुंचकर प्रणाम करेंगे, अपने-

आपको दूर रखे जाने का कारण जानेंगे···कुन्ती से उत्तर भी पाएंगे, किन्तु पिता ने वह इच्छा घोंट देने पर बाध्य किया था !

किन्तु पिता को क्यों दोषी ठहरा रहे हैं कर्ण ?···दोषी तो वह स्वयं हैं। क्यों नहीं साहस करके सार्वजनिक रूप से कुन्ती से प्रश्न किया—"उत्तर दो पांडवजननी कि मैं किसका पुत्र हूं ?···किसके रक्त-मांस का अंश हूं मैं ?"

कुन्ती बाध्य हो जातीं—कर्ण को पुत्र स्वीकारने के लिए !

यदि यह स्वीकार पा लिया होता तो फिर विगत इतना काटता क्यों ? किसलिए जीवन के हर सत्य को दृष्टि और दृश्य के बीच आंसुओं की परदा डाले हुए देखा होता ?

तलवे पर हथेली तेज-तेज घूमने लगी है···सोच और सोच। लगता है कि कर्ण के पास इन सोचों के अलावा कुछ शेष ही नहीं रहा है ! पराक्रमी, यशस्वी, कूटनीतिज्ञ और तेजस्वी महाराज अंगराज के पास कुछ भी नहीं ! न पराक्रम, न यश, न कूटनीति और न तेज।

जो शेष है सिर्फ सोचना। सोचना भी वह जो मातृत्व की प्यास से भरा हुआ है। सोच का विषय भी केवल वह जो केवल एक शब्द से जुड़ा है—कर्ण का समाज-स्वीकार ! निर्दोष पर अकारण लगे समाज-दोष का परिष्कार !

पर पिता सूर्य ने उस दिन जो जन्म-कथा बतलाई, उस दिन माता के समाज-शुभार्थ कहा था—"···वह कलंकित न हों, इसीलिए उन्होंने तुम्हें जल में बहाया था पुत्र !"

लगा था कि वे शब्द नहीं सुने हैं—उन शब्दों को कर्ण ने अपनी सभी कामनाओं, इच्छाओं और अपने वांछित अधिकार पर नागपाश की तरह जकड़ते भी देखा और अनुभव किया है !

हां, कर्ण की हर इच्छा जकड़कर रह गई थी ! उसी दिन की बात है। जन्मदिन कहो, या मृत्युदिन।

ठीक इसी तरह, जिस तरह प्रकाश बिन्दु से चौंककर जागे हैं—उस दिन भी जागे थे !

गुरुकुल की ही घटना है। याद है कि एकदम हाथ जोड़ लिये थे उन्हें

सामने पाकर—स्तब्ध !

दमदमाते प्रकाश के एक गोले की तरह तेजस्वी पुरुष सामने थे। होंठों पर मुसकान, स्वर्णिम केश और अंगारों की तरह जलती, किन्तु मोह लेने वाली दृष्टि।

हाथ जोड़े हुए युवक कर्ण स्तब्ध होकर देखने लगे थे। लगता था कि बहुत देर तक प्रकाशपुंज—जैसे उस अद्‌भुत व्यक्ति को देख नहीं सकेंगे। सूर्य थे वह···

सोचा-चाहा था कर्ण ने—वह स्वप्न देख रहे हैं या सत्य ? पर सोच भी नहीं सके। सूर्य ने अपना परिचय दिया, फिर प्रश्न किया—"तुमने मुझे स्मरण किया है, वत्स ?···"

"जी, जी देव !" कर्ण की पलकें श्रद्धा से झुकीं। आनन्द से विभोर होकर पुतलियों पर आंसू आए थे या सूर्य का तेज न सहेज पाने के कारण—कहना कठिन। पर सूर्य और अपने बीच कुछ झिलमिलाने जरूर लगा था···

"कारण वसुषेण ?" लगता था कि सूर्य शांत भाव से भी जो कुछ कहते हैं बिजली की तरह कौंध जाते हैं। किसी पल समूचा वातावरण जलता हुआ और किसी पल आनन्द के सात रंगों से भरा हुआ।

"देव ! आप अन्तर्यामी हैं। आप जानते हैं कि मैं किस दुविधा का दुःख भोग रहा हूं।···" कर्ण की आवाज सहमी हुई थी। आराध्य की सहसा सामने उपस्थिति ने उन्हें बुरी तरह लड़खड़ा दिया था। कहा—"आपके दर्शन कर मैं आनन्दित हुआ हूं सृष्टि पालक···मुझ पर अनुग्रह करें !"

सूर्य मुसकराए—"आयुष्मान हो कुन्तीपुत्र ! मैं तुम्हारी भक्ति और

आराधना से प्रसन्न हुआ हूं।"

कर्ण ने सुना···विस्मय से मुंह खुला रह गया—"कुन्तीपुत्र !" कुछ बोल नहीं सके। अवाक् होकर सूर्य की ओर दृष्टि गड़ाए रह गए ! सूर्य-तेज से निर्भीक होकर। सूर्य पूर्ववत् मुसकरा रहे थे। कर्ण पूछें, इसके पहले ही कहा था उन्होंने—"चकित मत हो, वैकर्तन ! तुम कुन्ती के और मेरे पुत्र हो।"

शब्द गुम ! सूर्य ने रहस्य की एक ही नहीं, दूसरी और बहुत महत्त्व-पूर्ण कड़ी भी खोल दी थी···गौरवमयी कुन्ती का पुत्र होना ही किसीके लिए अपार सुख, आनन्द और गौरव का कारण हो सकता है, तिस पर जैसे सूर्य देवपुरुष का वीर्यांश ! ओह ! सुख ने इस तरह सराबोर किया कि अपने ही भीतर भर गए। इतने कि यदि होंठ कांपें तो छलक पड़ेंगे···

बरसों से झुलसाते रहस्य को अपने शब्द जल से सूर्य इस तरह शांत कर रहे थे जैसे, बरखा के भरे बादलों को अपनी बांहों में भरे हुए आए हों। उन्होंने अपने और कुन्ती के कौमार्य सम्बन्ध की सारी कथा संक्षेप में कह सुनाई थीं···फिर कहा था—"अब तुम शान्त हो, कर्ण ! तुममें देवी कुन्ती का ओज और गुण है जबकि मेरा तेज। तुम्हारी कीर्ति युग-युगों तक अक्षुण्ण रहेगी ! तुम पराक्रम और पौरुष के आदर्श माने जाओगे। पृथ्वी पर सदा तुम्हारी गाथा अंकित रहेगी, अतः आश्वस्त हो और अपने वीरत्व माता और पिता का नाम यशस्वी करो !"

कर्ण चुप, स्तब्ध ! भला कैसे न हो जाते स्तब्ध ? सूर्य-दर्शन का वह पल ऐसा ही था। बिलकुल इस तरह, जैसे बरसों से सूखी पड़ी धरती पर अनायास ही जल की जीवनदायी बूंदें बरसने लगी हों···धरती सिर्फ पिये जा रही हो उन बूंदों को, आत्मसात् करती जा रही हो ··जल की निर्मल शीतलता को अपने अनन्त तक सहेज लेने में व्यस्त हो गई हो !

अनेक प्रश्न थे ! जलती धरती की तरह ही सुलगते हुए। किन्तु कोई प्रश्न उस समय न तो कर्ण के होंठों पर आ सका था, न ही मन में उभरा। वह तो केवल उस प्यास के बुझने में ही तृप्ति पाते रह गए, जिसने बरसों से उन्हें जलाया था···जो मिट नहीं पा रही थी···सूतपुत्र ! नीच··· अकुलीन !" आदि शब्द अग्निपिंडों की तरह कर्ण के मन-शरीर पर बर-

सते रहते थे…झुलसाकर रख दिया था उन्हें !

और सहसा सूर्य द्वारा रहस्य के उद्‌घाटन से वही झुलसन इस तरह शांत हुई कि पल भर के लिए अकल्पित आनन्द से विभोर सब कुछ भूल गए ! यह भी भूल गए कि उन्हें पिता से जवाब लेना है—"मुझे अकुलीनता का दोषी बनाकर जीने को बाध्य क्यों किया आपने ?"

पर नहीं, तब कोई प्रश्न ही नहीं जनमा था उनके भीतर। मुग्ध दृष्टि से सूर्य को देखते रह गए थे।

सूर्य ने अन्तिम शब्द कहे थे—"सुनो पुत्र ! तुम्हारी माता कुन्ती निर्दोष हैं। उन्होंने दुर्वासा से प्राप्त मंत्र को लेकर कौतूहलवश हो मेरा स्मरण किया था। मेरी ही तरह तेजस्वी पुत्र की कामना कर बैठी थीं वह…और मैंने उन्हें वह पुत्र प्रदान किया, किन्तु अब कुन्ती महान् कुरुवंश की राजरानी हैं। सामाजिक, राजनीतिक रूप से सम्मानित। उनका शुभ इसी में है कि तुम्हारा जन्म-रहस्य, रहस्य ही बना रहे !"

सुना – सिर्फ सुना !

पूछे, कोई प्रश्न करें, तर्क रखें या अपने आंसू उलीचकर तेजस्वी पिता से अपना दोष या कारण जाने—इसके पूर्व ही फैला हुआ प्रकाश सहसा बिन्दु बना, फिर गुम हो गया ! कर्ण की पलकें खुली ही रह गई थीं—सामने गहरा, एकदम काफी स्याह-सा अन्धकार फैला हुआ था !

स्वप्न में सूर्य ने ही सत्य से अवगत कराया था उन्हें ![1]

---

१. महाभारत : वनपर्व : के ३०९वें अध्याय में श्लोक-क्रम २० से २२ तक कहा गया है कि " कर्ण सूर्य के वीर्य और कुन्ती के गर्भ से पैदा होकर सूत के घर में पले थे। यही सूर्य का वह गुप्त विषय था, जिसका संकेत उन्होंने स्वप्न में कर्ण को दिया था !"

फैली-फैली आंखों से यहां-वहां बिखरे अन्धकार में ही देखने का प्रयत्न करने लगे थे कर्ण। सूर्य-दर्शन के तेज ने उन्हें इस तरह अकचका दिया था कि दृष्टि के सामने अब भी जहां-तहां तारों की तरह प्रकाश बिन्दु नजर आते, गुम जाते ! छोटे-बड़े अनेक प्रकाश-बिन्दु !

इन्हीं बिन्दुओं में गुम सोच-समझ। देर तक यही स्थिति रही। फिर धीरे-धीरे सहज हुए…

जब सहज हुए—तब लगा था कि अपने पर ही क्रोध आने लगा है। इतना बड़ा रहस्य जानने के बाद उन्होंने सूर्य से प्रश्न क्यों नहीं किए ? किसलिए चुप रहकर उनका वह अन्तिम आदेश या इच्छा सुन ली कि कुन्ती का शुभ, कर्ण के रहस्य बने रहने में ही है ?

बहुत बार मन हुआ था कि किसी तरह कुन्ती के सामने पहुंचकर अपना अधिकार मांगें ! कहें—"माता, यदि तुम मुझे जन्म देने की अधिकारी हुई हो तब भला मुझसे 'माता' सम्बोधन का अधिकार क्योंकर छीनती हो ? वही अधिकार मांगने आया हूं मैं !"

किन्तु वह भी मन ही था, जो रोक देता। अपने ही भीतर से कुछ शब्द उठते, कर्ण की इच्छा के हर चरण को विचार की बेड़ियों से जकड़ देते—' नहीं, मृत्युंजय ! तुम ऐसा नहीं कर सकते ! तुम इतने स्वार्थी नहीं हो कि अपने अधिकार के लिए माता का सर्वस्व सम्मान हर लो !"

कुन्ती का सर्वस्व था—उनकी समाज प्रतिष्ठा, कुरु-कुल की गरिमा और महान् राजा प्रतीप के वंश का राज-गौरव ! बचपन से ही सुनते आए थे कर्ण ! हर वर्ग, हर स्तर और हर वर्ण के मुंह से कुन्ती पवित्रता और स्त्री-आदर्श की प्रतिमा मानती जाती रही थीं, तब तब भला कर्ण इस प्रतिमा को खंडित कैसे कर सकते हैं ? अपने आपको घोंटकर उस पल उन्होंने सूर्य की इच्छा का आदर ही किया था। सोचा था कि कुन्ती ने भले ही कर्ण को त्याज्य समझ लिया हो, किन्तु कर्ण अपनी जन्मदात्री को सामाजिक ताड़ना का पात्र नहीं बनने देंगे। कुन्ती से उनकी वह कीर्ति कभी नहीं छीनेंगे जो समाज में उन्हें प्राप्त हैं।

क्या केवल यही कारण था, जिसके आधार पर उन्होंने अपने मन को पहली बार दबोचा ? इच्छा मसली और पीड़ा सहने की आदत डाली ?

मन से प्रश्न उठता।

लगता है कि बात इतनी ही नहीं है, कुछ और भी कारण है, जिसने कर्ण को इस तरह के निर्णय पर बाध्य किया ?

वह कारण न कुन्ती हैं, न सूर्य और न ही कर्ण···

बल्कि कोई अन्य कारण ! कुल, जाति और रक्त-सम्बन्ध से अलग एक भावना !

भावना—जिसका नाम राधा है !

राधा !

स्मरण मात्र से मन शीतलता से भर उठता है···एक पवित्र श्लोक-जैसा नाम है राधा।

यह श्लोक कर्ण की पालक भी रहा है, शक्ति भी और हर समाज-दृष्टि के धिक्कार-प्रहार के लिए कवच भी ! इसी नाम के सहारे कर्ण ने हर ताड़ना, हर लांछन और हर समाज-अपमान को झेल लिया है। जब-जब आत्मा ने चीखकर कर्ण को कुन्ती और सम्पूर्ण कुलीनता के विरुद्ध कटुतापूर्ण विद्रोह के लिए प्रोत्साहित किया है, उकसाया है, तब-तब राधा नाम की यही ढाल कर्ण के सन्तुलन को असन्तुलित होते-होते बचा सकी हैं !

जिस समय जन्म-रहस्य ज्ञात हुआ और कुन्ती की समाज-गरिमा के लिए सूर्य के निर्देश का पालन करना तय किया, उस समय यही राधा थी जो कर्ण के सामने आ खड़ी हुई थीं—चुप, किन्तु बहुत कुछ बोलती हुईं।

अब भी सब कुछ इस तरह याद है, जैसे इसी समय घट रहा हो ! कर्ण ने शिविर के भव्य आसन पर करवट ली और पलकें मूंदकर राधा की

उसी दृष्टि से जुड़ गए, जिस दृष्टि को सदा ही अपने साथ पाते रहे हैं··· लगता है जब-जब किसी पीड़ा-प्रहार से बचाव के लिए अपने-आपको राधा-पुत्र या राधेय सुनकर घायल होते हैं, तब-तब राधा इसी तरह सामने होती हैं···ढाल बनी हुई !

कितने मौके ? कितनी जगहें, जब कर्ण के लिए राधा इसी तरह सामने आयीं ? याद करने लगे हैं।

यह सब याद करना होगा। इस सबको याद किए बिना कर्ण का जीवन अधूरा है। कभी-कभी तो लगता है कि राधा, अधिरथ और इस सम्बोधन 'सूतपुत्र' के बिना कर्ण—अधूरे हैं। इनके बिना पूरे नहीं हो सकते ! इसलिए राधा का स्मरण आवश्यक ! केवल स्मरण ही नहीं—उनका मूल्यांकन !

यह मूल्यांकन अनेक बार किया था कर्ण ने, अनेक तरह ! किसी-किसी बार तो इस मूल्यांकन के फेर में ही वे राधा और कुन्ती की तुलना करने लगे थे—

एक जन्मदायिनी और दूसरी जीवनदायिनी ! पालक और पोषक !

इनमें कौन श्रेष्ठ है ? किसने कर्ण को उसका वांछित दिया ? किसने अपना मातृधर्म निबाहा !

तय करना होगा ! यह तय किए बिना कर्ण शान्ति नहीं पा सकेंगे !

× × ×

आश्चर्य होता है··· जब-जब राधा और कुन्ती को इस तरह तौलकर मातृत्व खोजने लगते हैं—तब-तब आश्चर्य ही होता है ! कभी-कभी अविश्वास भी होने लगता है !

एक—जिसने कर्ण को पाया था···और पाकर भी खो देने में अपना शुभ देखा···

दूसरी—जिसने कर्ण को राह में मिले धन की तरह पाया ईश्वर-प्रसाद की तरह श्रद्धा दी और जिसके लिए कर्ण को खो देने का मतलब होता उसकी अपनी मृत्यु !

एक—जिसकी कोख ने कर्ण को जन्म दिया और फिर किसी बार दर्द नहीं झेला ! और दूसरी जिसकी कोख ने कर्ण को नहीं जन्मा किन्तु कर्ण

की उदासी भर से अपनी कोख को कांपते-कराहते महसूस किया !

इन दोनों के बीच ही तय करना होगा—मां कौन है ?

और किसे कहना होगा मां ? किसके मातृ-संवेदन को निबाहेंगे कर्ण ?

विचार भर से कुन्ती का हमेशा उभरता-फैलता चेहरा अचानक धुंधलाने लगता है और उसकी जगह उभरती हैं माता राधा ! जन्मदायिनी नहीं, जीवनदायिनी माता ! उस दिन भी वही राधा कर्ण के विचारों में सामने आ गई थीं। सहसा कर्ण को थाम लिया था—"नहीं कर्ण ! तू कभी कुन्ती को अपनी माता नहीं कहेगा ! ऐसा करके तो तू मुझे खाली कर देगा, पुत्र ? क्या तू ऐसा स्वार्थी हो सकता है ? बोल बेटा ?"

द्रोणाचार्य के गुरुकुल के सबसे उपेक्षित हिस्से में रह रहे कर्ण को उस पल हर ओर राधा ही दीखी थीं···उनकी आवाज जैसे दिशाओं से गिर रही थी···हर दिशा से एक पुकार बनी हुई ··पुकार, जिसमें आंसुओं की बूंदें घुली थीं ? पुकार, जो अनायास ही धुंध बनकर कर्ण और कुन्ती के बीच छा गई थी···

कुन्ती को केवल इसलिए माता नहीं कह सकते कर्ण ! वह राधा की गोद खाली नहीं कर सकते ! राधा की कोख में दर्द उठे, यह भी उनके लिए असह्य है ! राधा के चेहरे पर उदासी आए, यह तक कर्ण के लिए कष्टदायी !

निष्ठा के प्रति निष्ठा धर्म कहलाती है ! स्नेह का प्रतिदान केवल स्नेह ! अतः राधा का प्रतिदान केवल समर्पित कर्ण !

राधा कर्ण की माता भले न रही हों, किन्तु उन्होंने सम्पूर्णता के साथ मातृधर्म निबाहा है ! अतः कर्ण भी उनके लिए दायित्वशील रहेंगे ! दायित्व का प्रतिदान केवल दायित्व ! यही धर्म !

सोचकर अच्छा भी लगता, सुख भी मिलता···

पर यही कुछ सोचकर कहीं हलका-सा दर्द भी उठ आता, खिन्नता भी जनमती !

इसी उहापोह में समय बीतता रहा। कर्ण, युद्ध-शिक्षा की हर सीढ़ी सफलता के साथ ही नहीं असाधारणा के साथ चढ़ते गए थे···कितनी ही

बार कुन्ती के दर्शन की इच्छा मन में जनमती थी, पर हर बार उसे घोंट लिया करते। सत्य को खोज चुके हैं वह ! अपने-आपको आश्वस्त कर लिया है कि उनका सत्य कुलीनता है ! मिलनेवाले शेष सम्बोधन असत्य है !

अपने-आपको सूतपुत्र कहते, गौरव से राधेय बखानते हुए भी कष्ट न होता—उसका सत्य जो पहचानते थे वह ? इस सत्य को जानकर जितना सुख मिला था, उससे कहीं अधिक इस असत्य से सुख मिलता था कि वह राधा-पुत्र हैं—सारथी अधिरथ और राधा की संतान !

सोचते थे गुण और वीरत्व की असाधारणता बहुत से कुलीनों का स्नेह दिल वाएगी, सम्बोधन-लांछन गौण हो जाएंगे···कर्ण को कर्ण के रूप में माना-जाना जाएगा ! पर लगता है कि गलत सोचा···

बहुत गलत !

उस पल गलत न सोचते तो भविष्य में इतना गलत न होता ! जानते थे कि गलत कर रहे हैं किन्तु उस गलत को करके ही शान्ति मिलती थी कर्ण को !

पर गलत सोचने के तनिक भी अपराधी कर्ण नहीं हैं—अपराधी है वह समाज, स्थिति और व्यवस्था जिसने गुण-ज्ञान के मूल्यांकन में भी कुलीनता-अकुलीनता को कसौटी बना दिया था ! इस कसौटी से ही विद्रोह किया था कर्ण ने ! करना नहीं चाहते थे, पर किया !

इसके लिए भी कर्ण स्वयं को दोषी नहीं मानेंगे ! भले ही मन कहता रहे—"कर्ण ! तुम दानी थे, विवेकशील ! उससे कहीं अधिक धर्मा-धर्म का ज्ञान भी था तुममें—तब भी तुमने अधर्म और कुचेष्टाओं की राह पकड़ी—ऐसा क्यों ? दोषी तुम नहीं हो तो कौन है ?"

× × ×

"असत्य ! नितांत असत्य !" बड़बड़ा उठे। झनझनाकर सिर हिलाया—उठ बैठे।

विश्राम के लिए शिविर में लेटे थे वह ! भावना-चित्रों और स्मृतियों में घिरे-घिरे कब भावुक होकर जागते में सोए और कब सोकर सहसा जाग उठे—याद नहीं ? इतना भर याद है कि अपने आप पर आरोप नहीं

सुन सके। सहना तो दरकिनार !

क्यों सहें भला ? सैकड़ों तर्क हैं कर्ण के पास। कारण हैं, वे स्थितियां हैं जिन्होंने कर्ण को बाध्य किया कि वह क्रिया की प्रतिक्रिया बनकर जिएं। बहुत बार नहीं चाहा था कि प्रतिक्रिया भाव से जीवन जिया जाए, पर इतनी जगह, इतने स्तरों पर आहत किया था उन्हें कि वह केवल प्रतिक्रिया भर बनकर रह गए ! प्रतिक्रिया भी ऐसी, जिसका लक्ष्य ध्वंस बन गया हो ! केवल नाश !

पुनः बेसब्री से चहलकदमी कर उठे हैं···कल सुबह के साथ ही जब कुरुक्षेत्ररण में कर्ण और समूचे पांडव पक्ष के बीच एक निर्णायक और अन्तिम संग्राम होने जा रहा है, तब यह निर्णयात्मक आत्मयुद्ध अनिवार्य हो गया है।

क्यों है अनिवार्य —कर्ण नहीं जानते, किन्तु निरन्तर लग रहा है कि अनिवार्य है। जीवन में शेष रहेगा या मृत्यु मिलेगी—इस निश्चित निर्णय वेला में, कर्ण को उनका अपना आत्म बाध्य कर रहा है कि पहले अपने जीवित रहने या मरने का निर्णय इस आत्मयुद्ध में कर लें !

यह आत्मयुद्ध कुरुक्षेत्र रण की तरह कुछ घंटों, दिनों या प्रहरों में निर्णीत नहीं होगा···न ही उस तरह प्रारम्भ हुआ था—यह तो कर्ण के जन्म से ही चला था—अनेक मोरचे आए, इन मोरचों पर धर्म-पक्ष ने क्या किया—अधर्म-पक्ष ने क्या किया—यही निर्णय करना होगा !

तेज-तेज कदम·· हर कदम व्यग्रता से भरा हुआ सीमित स्थान और उस स्थान-सीमा में ही लौटते-मुड़ते और फिर लौटते हुए आत्म-निर्णय करते हुए कदम··· ! मन जैसे दो पक्षों में बंट गया है ! एक पक्ष क्रिया जतलाता हुआ, क्रिया के तर्क करता हुआ···दूसरा पक्ष—प्रतिक्रिया !

इन सबके बीच है सत्य ! इसे सत्य का शोधन ही कर्ण के इस निरंतर चलते रहे आत्मयुद्ध का निर्णय !

पहले पक्ष ने अभी-अभी यह कहकर कि कर्ण दोषी हैं, कर्ण को बुरी तरह आहत किया था···इस तरह कि लगभग चीखने की मुद्रा में बड़बड़ा उठे थे—"नहीं ! एकदम असत्य !"

"यदि यह आरोप झूठ है—तो कर्ण बचाव में अपना पक्ष कहें ! प्रमाणित करें कि सत्य क्या है ?" मन का प्रश्न है।

"हां, मैं प्रमाणित करूंगा ? अवश्य करूंगा ! बहुत कुछ है मेरा सत्य ! यह कि मैं निर्दोष हूं ···दोषी हैं वे सब, जिन्होंने मुझे मेरा वांछित कभी नहीं दिया ! मेरा सम्मान-अधिकार, समाज-अधिकार, कुल-स्थान··· कुछ नहीं दिया !

और इसके साथ ही कई-कई चेहरों को अपराधी कटघरे में खड़े करने लगे हैं कर्ण बड़बड़ाते हुए···

"यह हैं मेरी माता कुन्ती, जिन्होंने मुझे जन्म दिया, त्यागा और फिर कभी, किसी भी स्थिति में पुत्र नहीं स्वीकारा ! जानते हुए भी सबके सामने मुझे सूतपुत्र' के सम्बोधन से ही सम्बोधित होने दिया ?"

"···और यह हैं आचार्य द्रोण, जिन्होंने अपने विकृत गुरुत्व और ज्ञान के कारण मुझे मेरे पराक्रम, कौशल और युद्ध-निपुणता के गौरव से सदा ही तिरस्कृत रखा। सदा मेरा सार्वजनिक अपमान किया !"

बदहवास कर्ण एक के बाद एक आरोप लगाए जाते हैं, तर्क दिए जाते हैं···माथे पर पसीना उभर आया है, स्वर होठों से बाहर नहीं आते किन्तु लगता है कि अपने ही भीतर चीख-चीखकर सब कुछ कहते हुए गला सूखने लगा है···श्वांस तीव्र हो गई है···

विद्रोही पक्ष एक के बाद एक अपराधी खड़े कर रहा है···

पिटा और झुका चेहरा लिए कुन्ती···वृद्ध युद्धाचार्य का दोष की कालिख से पुता चेहरा···श्वेत, धवल दाढ़ी पर एक दाग बनकर रह गया गुरुधर्म !

एक यही चेहरा तो नहीं है कर्ण का अपराधी···? उस कर्ण का कारण जो व्यासकृत महाभारत के हजारों पृष्ठों में अपनी वेदनाकथा के असंख्य आंसू बनकर बिखरा पड़ा है···

"···पितामह भीष्म ? युग के साक्षात् समय-सत्य ! वीरता और रण-कौशल के अनुपम उदाहरण ! नीति-धर्म के ज्ञाता ! महान् कुरु-कुल के पूज्य !"

"···उन्होंने भी कहां न्याय दिया मुझे ? केवल इस कारण कि यशस्वी

कुरु-कुल की महारानी लांछित न हो जाए ! कुन्ती के तथाकथित गुण-गौरव और कुलीनता से कौरव कुल सदा सम्मानित होता रहे ?"

चेहरे और चेहरे···एक के बाद अनेक चेहरे··· ये सभी चेहरे कर्ण के प्रति घोर असामाजिक अन्याय के चेहरे हैं ! तब यदि कर्ण केवल प्रति-क्रिया बनकर रह गए तो दोषी कौन हुआ ?

इन सभी को, सबसे जुड़ी घटनाओं के साथ कर्ण अभियोग के कटघरों में खड़ा करेंगे —पूछेंगे, तुमने ऐसा क्यों किया ? क्यों ?

सबसे पहले— कुन्ती !

कर्ण एक गहरा श्वांस लेकर बैठ रहे पलंग पर। एक बुदबुदाहट बन-कर अपने से ही पूछने लगे थे—वैसा क्यों किया कुन्ती ने ? उस समय, जबकि हस्तिनापुर में जन-उत्सव आयोजित किया था पितामह भीष्म ने !

जन-उत्सव या कि अपने कुल-जनों की शक्ति-प्रदर्शन की आतंकपूर्ण राजनीति का उत्सव !

जो भी हो, पर यह उत्सव हर योद्धा के युद्ध-प्रदर्शन के लिए है—यही बतलाया गया था, यही प्रचारित किया गया···

उसी में कर्ण अपने पिता अधिरथ के साथ पहुंचे थे···[१]

---

१. महाभारत : वनपर्व : के ३०६वें अध्याय में अधिरथ द्वारा कर्ण को हस्तिनापुर भेजने का चर्चा है : (श्लोक-क्रम —१८ से २० तक) इसी में कहा गया है कि 'वहीं उनकी दुर्योधन से मित्रता हो गई' और इसीमें एक वाक्य आया है कि 'वहीं रहकर वह द्रोणाचार्य से अस्त्र-विद्या सीखने लगे !' इन सारे सन्दर्भों को जोड़ने से यह अर्थ निकलता है कि कण ने द्रोणाचार्य से ही अस्त्र-विद्या सीखी। जबकि आदिपर्व के (अध्याय-१३६) में कहा गया है कि कुरु-पांडव कुमारों के अस्त्र-संचालन हेतु हुए जन-उत्सव में कर्ण सहसा जनता के बीच से निकलकर आए और उन्होंने अर्जुन को चुनौती दी, कहा कि वह 'श्रेष्ठ' हैं। इस समय उनके साथ अधिरथ का होना भी बतलाया गया है ! इसी समय पांडवों, कौरवों और द्रोणाचार्य ने उन्हें पहली बार देखा ··

उपरोक्त दोनों स्थितियों को यदि तारतम्य में जोड़ा जाए तो लगता है कि कर्ण को हस्तिनापुर लेकर अधिरथ स्वयं आए थे। वहां द्रोणाचार्य का शिष्यत्व पाने के पूर्व ही जन-उत्सव में कर्ण ने सहसा प्रकट होकर अर्जुन को चुनौती दी। बाद में उन्हें द्रोणाचार्य का शिष्यत्व मिला···

उसी दिन कर्ण ने पहला परिचय किया था हस्तिनापुर के जन-जन से। या कि जन-जन ने कर्ण को पहली बार देखा।

पर उस समय सब देख रहे थे—कुरु-पांडव कुमारों को। दृष्टि में आश्चर्य ! कौतहल पलकों के गिर्द थिरकता हुआ ! अद्भुत पराक्रम-प्रदर्शन से चित्रजड़ित रह गए हजारों नर-नारी ! बाल, वृद्ध, वनिताएं !

जन-साधारण की भीड़ में ही खड़े थे कर्ण। साथ में वृद्ध अधिरथ। बाप-बेटों में से किसी को भी न अचरज था, न ही वे किसी के युद्ध-कौशल से बहुत प्रभावित हो रहे थे। गयी रात्रि ही कर्ण नगर में आए थे। शस्त्रज्ञ द्रोणाचार्य का शिष्यत्व पाना था उन्हें। तब की बात है।

महाबाहु अर्जुन के शस्त्र कौशल ने सर्वाधिक प्रभाव किया। एक ओर उच्चासनों पर बैठे कुरु-राजपुरुषों के मस्तक गौरव से दमदमा उठे। वृद्ध पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्य ने अपनी गहरी तेजस्वी आंखों से परस्पर एक-दूसरे को देखा, फिर क्रमशः उत्सव में उपस्थित जन-साधारण को ! मुसकराए—आश्वस्त हुए। भीष्म ने जैसे स्नेहादर की दृष्टि से द्रोण को थपथपा दिया था—'ब्रह्मन् ! बरसों पूर्व कुरु-पांडव कुमारों को लेकर आपको जो दायित्व मैंने सौंपा था उसे पूर्ण होते देखकर मैं संतुष्ट हूं। आभार लें !

गांडीवधारी इस समय भी विविध अस्त्र-शस्त्रों का संधान कर रहे थे। न कोई निशाना चूकता था, न ही विचलित दीखते। आश्चर्यजनक

एकाग्रता और अपने वीरत्व से वातावरण को सम्मोहित कर लेने की क्षमता थी उनमें !

लगता था जैसे सभी ओर से यंत्रवत् जय-जयकार उठ रहे हैं—दिग्-दिगन्त तक गूंजते हुए ! ऐसे ही दिग्-दिगन्त तक गूंजते जयकारों को अब सम्पूर्ण प्रतीप-वंश और शक्तिशाली कुरु-जांगलवासी देखेंगे, सुनेंगे ! युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन ही नहीं देवी गान्धारी के सभी पुत्र अस्त्र-चालन, मल्लयुद्ध और रण-चातुर्य के विलक्षण प्रदर्शन कर चुके थे···

अर्जुन ने खंगयुद्ध, गदायुद्ध, धनुर्युद्ध के अनेक कौशल दिखाये···सर्वाधिक जय-जयकार कमाया···

उपस्थित दर्शकों ने फूल बरसाये, हर्षावेग में देर तक आकाश को घोर धनंजय के जय-जयकारों से गुंजाए रखा···

एक पल के लिए अर्जुन ने कुरु-कुमारों को सहमा कर रख दिया था। दुर्योधन ने भी अद्भुत अस्त्र-प्रदर्शन किया था, किन्तु अर्जुन के सामने फीके पड़ गए थे। बेबसी और चिढ़ से श्वेतवाहन को देखते बैठे हुए थे···

विशाल प्रांगण भीड़ से चारों ओर खचाखच भरा हुआ था। एक ओर उच्चासनों पर मखमली सिंहासन में सतर्क बैठे मंत्री, उच्चाधिकारी सभासद और विद्वान—एकाग्रता के साथ रंगभूमि के हर दृश्य का आनन्द सुख लेते हुए···

सबसे किनारे पर रानियां और कुल की सम्बन्धी स्त्रियां देख रही थीं। झिलमिलाते परदों की झीनी चादर ने कई सुन्दर, सुकुमार, तेजस्वी चेहरे बन्द कर रखे थे···वे सब दृष्टि से ओझल, किन्तु उनसे कहीं कुछ ओझल नहीं !

कर्ण की दृष्टि से भी कोई दृश्य ओझल नहीं ! हस्तिनापुर में आते ही यह जानकर सुख मिला था कि राज्य की ओर से जन-उत्सव आयोजित है और उसमें सभी योद्धाओं को अपना अस्त्र-कौशल प्रदर्शित करना है ! प्रतियोगिता की तरह उत्सव आयोजित नहीं हुआ था, किन्तु अपरोक्ष रूप से प्रतियोगिता बन गया था ! उस समय तक कर्ण ने नहीं सोचा था कि जन-उत्सव में भाग लेंगे, किन्तु जब वातावरण देखा तब एक आकुल इच्छा जाग पड़ी···मन होने लगा कि वह भी अपना अस्त्र-कौशल दिखाएं !

किन्तु वह उचित होगा या अनुचित ? निश्चित नहीं कर सके थे वसुषेण। एक मन कहता था—"तुम तो गुरु द्रोण के छात्र बनने आए हो राधेय ! तब गुरु के सिखाए लोगों के साथ आकर शस्त्र-प्रदर्शन करना कहां तक उचित होगा ?"

मन इस विचार ने सहमा दिया था। किन्तु सहसा यह सहम टूट गई थी। जनोत्सव के आरम्भ करते हुए कृपाचार्य बोले थे—"यह रंगभूमि सभी के लिए खुली है ! यह केवल वीरों के लिए है···और वीरता तथा अस्त्र-संचालन में जो भी अपने को योग्य समझे—इस प्रदर्शन में सहर्ष भाग ले !"

तालियां बजी थीं। कर्ण को लगा था कि इन तालियों के साथ ही वह इस संकोच-बन्धन से मुक्त हो गए हैं कि प्रदर्शन में किस तरह भाग लें ? उसी पल निश्चय कर लिया था, जिस पल सुना। कर्ण अवश्य ही प्रदर्शन में भाग लेंगे ! जितना स्वयं-सीखा समझा है, उसी को प्रदर्शित करके प्रसन्न होंगे !

इस विचार को कुरु-पांडव कुमारों के अस्त्र-संचालन और युद्ध प्रदर्शन ने अधिक बुनियाद दी···आश्चर्य हुआ था कि गुरु द्रोणाचार्य के औसत शिष्य या तो बहुत योग्य नहीं थे, या उस समय तक पूरी तरह कुशल नहीं हो सके थे ! गिने-चुने लोगों ने कुछ प्रभाव छोड़ा था मन पर ···सबसे ज्यादा अर्जुन ने !

मन-ही-मन सराहना की थी अर्जुन की—"धन्य हो वीर ! तुम अवश्य ही विशेष हो !

यह सराहना जो कुछ पल पहले धनंजय के प्रति कर्ण के मन में वीरोचित श्रद्धा और सराहना-भाव से उत्पन्न हुई थी, सहसा उस समय विढ़ बन गई थी, जब कृपाचार्य ने चीखकर कहा था—"गांडीवधारी अर्जुन, महाबली भीमसेन, अद्‌भुत पराक्रमी दुर्योधन जैसे वीरों के बाद अब मेरे विचार से इस रंगभूमि में कोई शेष नहीं है जो अस्त्र-शस्त्रों का वैसा संचालन कर सके ! आचार्य द्रोण के इन सभी शिष्यों ने उपस्थित जनों को बहुत रोमांचित और आनन्दित किया है ! समय बहुत हो चुका है, अतः मैं यह उत्सव समाप्त किए जाने की आज्ञा चाहता हूं···महाराज धृतराष्ट्र

इसे समाप्त करें !"

"नहीं !" सहसा एक स्वर उठा था उपस्थित भीड़ के बीच से। सभी ने चौंककर देखा···कुछ सोच सकें इसके पूर्व ही कर्ण गौरवपूर्ण चाल में भीड़ से बाहर रंगभूमि में बढ़ आए थे···

राजपुरुषों से लेकर साधारण जनों तक दृष्टियां इस तरह कर्ण पर जा ठहरी थीं, जैसे वे सब विधि का कोई अलौकिक चमत्कार देख रहे हों। चमत्कार, जिसने सहसा ही पृथ्वी पर पौरुष, तेज और बल की कोई नयी शक्ति उत्पन्न कर दी हो ! हां, ऐसे ही तो लग रहे थे कर्ण···पर्वताकार देह, शिखर की तरह ऊंचा मस्तक, विशालबाहु, गौरवर्ण वसुषेण ! कानों में कुंडल दमक रहे थे—सीने पर चमकता चकाचौंध करता हुआ रत्न-जड़ित कवच। कान्धे पर तरकश तीरों से भरा हुआ लटक रहा था, कमर में तलवार। सुन्दर धनुष को आराम से लिए वे टहलते हुए से रंगभूमि के बीचोबीच जा पहुंचे थे। द्रोणाचार्य को प्रणाम किया था, फिर सभी को सम्मान से देखा। उनकी ओजपूर्ण वाणी किसी नदी की शान्त धारा-जैसी वातावरण में बह पड़ी थी···

"उपस्थित जनों को प्रणाम करता हुआ मैं निवेदन करता हूं, वृद्धजन कि पृथ्वी पर अनेक ऐसे वीर हैं जो अर्जुन से कहीं अद्‌भुत पराक्रम दिखा सकते हैं ! जिन विद्वान ने अभी-अभी यह कहा कि इस रंगभूमि में अब कोई ऐसा नहीं दीखता जो वैसे प्रदर्शन कर सके···इसीलिए मैं उपस्थित होने को बाध्य हुआ !"

कुछ पल के लिए बोलते-बोलते वसुषेण थम कर चारों ओर देखने लगे थे। वे सभी इस समय भी विस्मित, हतप्रभ से एक-दूसरे को और कभी कर्ण को देख रहे थे। राजपुरुषों की पंक्ति में कुछ फुसफुसाहटें बिखरी हुई थीं···कर्ण ने अनुमान किया था कि संभवतः वे सब राधा पुत्र को देखकर ही बुदबुदा रहे हैं ! फिर सब ओर से ध्यान हटाया, अपनी बात जारी रखी—"निस्सन्देह अर्जुन ने अद्‌भुत अस्त्र-संचालन कर दिखाया है···किन्तु, इससे वह यह न समझ लें कि वही हैं जो इस पृथ्वी पर अकेले धनुर्धर या पराक्रमी हैं ! मैं भी हूं और उनसे कहीं अधिक कुशलता के साथ वे सारे अस्त्र-कौशल दिखा सकता हू, जो अभी-अभी उपस्थित जनों को गांडीव-

धारी ने दिखलाकर रोमांचित किया है।" वह कुछ कदम आगे बढ़कर पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण की ओर मस्तक उठाकर देखने लगे थे…

चुप्पी उस समय भी बिखरी थी। उठे मस्तक और दीर्घकाय शरीर के कर्ण को लेकर फुसफुसाहटें प्रारम्भ कीं…

"अद्भुत शरीर और शक्ति दीखती है इस आगंतुक में ?"

"हां उसकी बड़ी-बड़ी आंखें, गौरवपूर्ण व्यक्तित्व और वीरोचित चाल से साफ पता लगता है कि पराक्रमी होगा !"

निस्सन्देह गांडीवधारी अर्जुन से अधिक !" एक आवाज उछली और तुरन्त जवाबी आवाज ने थाम लिया था उसे—

"अधिक न भी हो तो संतुलन अवश्य है धनंजय का !"

"शांत रहो ! शांत !" एक आवाज उभरी…फिर इसी तरह की कई आवाजें उभरती चली गईं।

पर कई लोग आवाक् थे। सिर्फ वह असाधारण शरीर, बल, तेज और लम्बाई देखते हुए। कर्ण के बदन पर मांसपेशियां चट्टानों की तरह गठी हुई थीं। एक सौ अड़सठ अंगुल उन्नत शरीर था उसका।[1]

अभी कोई कुछ कहे या फुसफुसाहटें नयी लहर लें, इसके पूर्व ही राज-पुरुषों की पंक्ति से उतरकर दुर्योधन नीचे आए…उनकी आंखों में प्रसन्नता थी, चाल में फुरती। आगे बढ़कर कर्ण का कन्धा थपथपाया था …अर्जुन की ओर व्यंगात्मक दृष्टि से देखते हुए स्वर-गर्जना की थी—"तुम्हारा स्वागत करता हूं महाबाहु ! वीर का आदर और परिचय

---

1 महाभारत : कर्णपर्व : के ७२वें अध्याय (श्लोक-क्रम २९ से ३० तक) में श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्ण के प्रति तरह-तरह से सावधान और सतर्क रहकर युद्ध करने को कहते हैं। यहीं वह कर्ण की वीरता, शक्ति, गुण और क्षमताओं के साथ-साथ उसकी शारीरिक शक्तियों का वर्णन भी करते हैं। कहते हैं—"एक सौ अड़सठ अंगुल का उसका उन्नत शरीर है।"

आज के आदमी की औसत लम्बाई के अनुसार अंगुल कम-से-कम १ इंच का होता है। यदि इस औसत के अनुसार कर्ण की लम्बाई मापी जाए तो महाभारत में वर्णित १६८ अंगुल से १४ फुट आती है। यहां यह नहीं भूला जाना चाहिए कि उस युग के आदमी का अंगुल, उसके शरीर की औसत लम्बाई के अनुसार ही होता होगा और महाभारत में उसी अंगुल से कर्ण की लम्बाई बयान की गई है।

—लेखक

वीरता ही होते हैं। इसी सम्बन्ध के आधार पर तुम्हें प्रति सम्मान व्यक्त करता हूं मैं कुरुराज धृतराष्ट्र का पुत्र और प्रतीप का वंशज दुर्योधन ! तुम जैसे साहसी के दर्शन कर मैं आनन्दित हुआ हूं। यह कुरुवंश अब तुम अपना ही समझो ! मुझसे तुम्हें सदा-सर्वदा स्नेह और समर्थन मिलेगा !"

भीड़ से तालियां बज उठीं। दुर्योधन समर्थकों की भी हस्तिनापुर में कमी न थी। फिर राजकाज में सर्वाधिक प्रभावी राजकुमार भी वही माने जाते थे।

अनायास ही राजपुरुष से मिले आदर ने कर्ण के समाज-स्वीकार हेतु छटपटाते मन को जैसे आश्रय दे दिया था। दुर्योधन जिस सरलता से उसके पास पहुंचा, लगभग उसी सरलता से उन्होंने स्नेह-सम्मान को स्वीकार किया। बोले थे—"मैं आपके स्नेह से आनन्दित हुआ राजकुमार ! आप से मित्रता करना चाहता हूं। यहां मैं केवल अर्जुन से द्वंद्व-युद्ध करने उपस्थित हुआ हूं..."

दुर्योधन ने गले लगा लिया था कर्ण को। वह स्मरण ? लगता है कि कुरुकुमार की राजसी देह का वह बराबरी से स्वीकार और सामीप्य कर्ण के जीवन की श्रेष्ठतम उपलब्धि है ! वही पल तो था, जिसने कर्ण को सदा-सदा के लिए दुर्योधन के प्रति उपकृत भाव से भर दिया ?

दुर्योधन ने कहा था—"मित्र ! आज के बाद तुम मेरे साथ राज-सुख भोगो ! शत्रुओं का नाश करो और मित्रों का प्रिय !"

पांडव सकपकाए रह गए थे। शेष गान्धारी पुत्र इस प्रभावशाली व्यक्ति से बड़े भाई को मित्रता करते पाकर प्रसन्न हुए। उन्होंने हर्षध्वनि के साथ इस मैत्री का स्वागत किया।

इस सारे दौर में एक बार पुनः सन्नाटा बिखर गया था। भीष्म पितामह आचार्य द्रोण और कृपाचार्य...सभी हकबकाए से बैठे देखते ही रह गए थे ! दुर्योधन ने उस अपरिचित, किन्तु वीर दीखने वाले व्यक्ति के साथ कितनी शीघ्र मित्रता कर ली थी ? सोचकर जितने चकित हुए थे, उतने ही आशंकित !

अर्जुन बोखलाए हुए...कर्ण की दृष्टि में जितना उपहास भरा था, उससे कहीं अधिक दुर्योधन की दृष्टि धिक्कार रही थी उन्हें...रहा नहीं

गया था। एकदम उठ पड़े थे ···तरह-तरह से कोसने, अपशब्द बोलने लगे थे कर्ण के प्रति···

कितना अच्छा होता, कर्ण उस समय तक यह रहस्य जान चुके होते कि वह कुन्ती पुत्र है ! पांडवों में सबसे बड़े। अर्जुन उनका छोटा भाई ! जानते तो अर्जुन और उनके प्रति प्रतिस्पर्धा, बैरभाव तक कैसे पहुंच जाती ?

कर्ण कभी न पहुंचने देते !

क्या सच ही ? कर्ण के अपने भीतर ही प्रश्न जनम आया है—"क्या सच सोच रहे हो वसुषेण ? तुम दानी अवश्य रहे हो, किन्तु क्षमा-दान का तो तुममें सदा ही अभाव रहा ! यह न होता तो किसलिए विषबेल की तरह फलते-फूलते ?"

लगा था कि अपने को ही नहीं सह पाएंगे ! आंखें मूंद ली थीं। हो सकता है कि इस तरह आत्मा के प्रहारों से बच सकें। न भी बचे तो कम-से-कम प्रहार के हथियार को न देखें ! सहम जाते हैं !

उस समय भी सहम गए थे। बुदबुदा उठे—"संभवतः नहीं ! यह ज्ञात होने पर भी कि अर्जुन भाई हैं—छोटे भाई हैं—कर्ण उन्हें कभी क्षमा न करते !

और क्यों करें ? सदा कर्ण पर दर्प, अहंकार का दोष लगाया जाता रहा है। सब ने यही कुछ तो कहा है उन्हें, किन्तु यह अहंकार क्या अर्जुन में कम रहा ?

कम रहा होता तो उस पल रंगस्थल में भला अर्जुन उस तरह क्यों बोलते ? उस समय तो कर्ण ने केवल उन्हें चेतावनी दी थी कि एक वही नहीं हैं अकेले धनुर्धर···और भी हैं···

और आपा खोकर अर्जुन चिंघाड़े थे—"जो लोग बिना बुलाए कहीं जा पहुंचे, उन्हें जिस लोक में जाना चाहिए—मैं तुझे मारकर उसी लोक में भेज दूंगा !"

छि: ! कितनी घिनौनी बात ! कैसा व्यक्तिगत द्वेष ! कर्ण तो उस पल केवल प्रतियोगी की तरह प्रदर्शन करने गए थे···वही कुछ कहा था उन्होंने। श्रेष्ठतम अर्जुन प्रमाणित हुए थे अत: अर्जुन का नाम ले लिया था उन्होंने···और अर्जुन ने उसे प्रतिस्पर्धा से बदलकर वैमनस्य बना डाला था।

दोषी कौन है ? कर्ण या अर्जुन ?

"दोषी अर्जुन ही हैं ! वही तो हैं, जिसके कारण मुझे पहला और जीवन का सबसे कड़वा सामाजिक-अपमान झेलना पड़ा !" बड़बड़ाए हैं वह।

पर विचित्र बड़बड़ाहट है। अपने से ही बड़बड़ाती हुई—शब्दहीन, किन्तु पूरी तरह शब्द प्रतिक्रिया करती हुई ! प्रश्नों को कुरेदती हुई। हौले से मन बोला है—"यह कहकर दोषमुक्त नहीं हो सकोगे, वैकर्तन !"

बहुत कुछ हुआ था उस जन-उत्सव में। कर्ण और अर्जुन ने परस्पर हिंसक दृष्टि से देखा था फिर मैदान में उतर आए···

जिस पल अर्जुन को द्रोण, भीष्म, कृपाचार्य आदि ने गले लगाया था, उस पल वह मान-सम्मान और स्नेह दुर्योधन तथा उसके भाइयों से कर्ण को मिला। वे गले मिले थे।

एक-दूसरे पर प्रहार आरम्भ करें या अलग-अलग प्रदर्शन करें, इसके पूर्व सभी ओर सनसनी और फुसफुसाहटें बिखर गई थीं। कर्ण ने यहां-वहां पुतलियां घुमाकर देखा था और जिस ओर कुरु-रानियां बैठी हुई थीं उस

ओर हलचल पर उनका ध्यान जा ठहरा था···फिर हलचल बढ़ने लगी थी। फुसफुसाहटों और चहल-पहल के कुछ क्षणों में पता चल गया था कि पांडुपत्नी कुन्तीदेवी कुछ अस्वस्थ हैं···पर वह अपने स्थान से गयी नहीं थीं।

अभी कर्ण ने धनुष संभाला ही था कि कृपाचार्य उठ खड़े हुए। गभीर आवाज में कहा था उन्होंने—"आगंतुक! कुरुवंश में उत्पन्न और महाराज पांडु के पुत्र अर्जुन तुमसे तुलनात्मक युद्ध करने को तैयार हैं, किन्तु इससे पूर्व यह आवश्यक है कि तुम अपने नाम, कुल और वंश का परिचय दो! कुल का उल्लेख इसलिए आवश्यक है क्योंकि तुम एक राजपुत्र से युद्ध स्पर्धा करने जा रहे हो? और तुम्हें ज्ञात ही होगा, आगंतुक वीर कि राजपुरुष अपने से नीचे कुल शील वाले व्यक्ति के साथ युद्ध स्पर्धा नहीं किया करते!"

कर्ण को लगा था कि पल-भर में धरती घूमने लगी है·· कृपाचार्य का हर शब्द उन पर असंख्य चट्टानों की तरह गिरा था···कर्ण का चेहरा इस तरह कुम्हला गया था जैसे किसी अंकुर को सहसा मरुथल की तपती रेत पर फेंक दिया गया हो! हे ईश्वर! यह कैसी परिस्थिति? कैसा संयोग? सम्पूर्ण क्षमता और साहस के बावजूद कर्ण केवल इस स्पर्धा में इसलिए आयोग्य ठहरा दिए जाएंगे क्योंकि वह···

सभी ओर सन्नाटा। सारी दृष्टियां कर्ण पर केन्द्रित। हर आंख यह पूछने-जानने को आतुर कि कर्ण तुम कौन हो? किसके पुत्र हो? कौन हैं तुम्हारी गौरवशाली माता?···किस गर्भ ने तुम जैसे वीरत्व को जना है?···

अनुभव हुआ था कि इसी पल बेसुध होकर गिर पड़ेंगे! पसलियों के भीतर लहू झरता हुआ··बूंद-बूंद की इस रिसन के साथ बूंद-बूंद रिसते हुए कर्ण! लगा था कि सब ओर अन्धेरा हो गया है। इतना घुप्प अन्धेरा कि उसमें कर्ण कुछ भी नहीं देख पा रहे हैं···यदि कुछ दीख रहा है तो कालिख का एक समुद्र! रो पड़ना चाहते थे···चीख-चीखकर—"ओ मेरे पिता!···मेरी माता, तुम जहां भी हो—मेरी पुकार सुनो! मुझे सामाजिक अपमान की इस कालिख के सागर से उबारो! बचाओ मुझे!"

अपनी ही चीखें, अपने ही कानों में गड़ती हुई महसूस हुई थीं कर्ण को···शेष सब गुम हो गया था !

पलकें—कब, किस पल खुलीं—याद नहीं। बस, इतना याद है कि अच्छा लगा। शिविर के भीतर धीमा प्रकाश था। यह प्रकाश भी दृष्टि को अखरा। मन हुआ था कि जागते भले ही रहें, किन्तु पलकें मूंदे हुए—अन्धेरा अच्छा लग रहा है।

आश्चर्य ! लगा कि भीतर से कोई जोर के साथ ठहाका मारकर हंसा है। तीखी, नुकीली हंसी में—"भला कोई विश्वास कर सकेगा सूर्यपुत्र—कि तुम्हें अन्धेरा प्रिय है ?"

जी हुआ था कि चीखकर जवाब दे दें—"इसमें अचरज जैसा क्या है ? हर अन्धेरा सूर्योदय की प्रतीक्षा का एक निश्चित क्रम होता है !" पर लगा था कि अपने ही भीतर स्वरहीन हो रहे हैं।

मखमली गद्दे पर भी चुभन महसूस हो रही थी—उठ बैठे। मन बेचैनी से भरा हुआ। अनचाहे ही अचरज के समुद्र में डूबता-उतराता। हर डुबकी के साथ एक प्रश्न···

क्या कर्ण आज के निर्णायक युद्ध को लेकर चिन्तित हुए हैं ? या पराक्रमी धनंजय से भय लग रहा है उन्हें ? कुरुक्षेत्र समर की भयावह विनाश-लीला ने डरा दिया है उन्हें या मृत्यु-भय उन्हें घबरा गया है ?

हुंह ! हर विचार को एक धिक्कार से धकेलकर अपने से परे किया—टहलने लगे। जीवन के हर पल में, हर स्तर पर किसी-न-किसी युद्ध को झेलते रहे वीर कर्ण को भला मृत्यु-भय क्या डराएगा ? जिसके लिए जीवन और मृत्यु दोनों ही अस्तित्वहीन हो चुके हों—भला उसके मन में भय कैसा ? कर्ण का तो सारा जीवन ही युद्ध के मैदान में बीता है। कभी

उसने प्रश्नातुर समाज-दृष्टियों के तीक्ष्ण बाण अपने सीने पर सहे हैं, कभी युद्ध में घाव कमाए हैं···उस कर्ण के लिए भय ? चिन्ता ? दुविधा ? सारे शब्द ही अर्थहीन !

तब भला नींद क्यों खुल गई राधापुत्र की ?

प्रश्न कहां से आते हैं—मालूम नहीं, पर आते हैं। कर्ण शिविर में तेज-तेज चहलकदमी करते रहे···स्वयं पर आश्चर्य हुआ—सच ही तो ऐसा कभी नहीं हुआ उनके साथ ? इस तरह किसी अजाने, पल प्रहर में नींद नहीं खुली ? तब आज ही ऐसा क्यों ?

बहुत खोजा है अपने भीतर, पर लगा कि उत्तर नहीं है। अपने पर ही झल्लाहट हो आई थी।

शिविर में सन्नाटा था। कभी-कभी आसपास के युद्ध-शिविरों से दबी-मुंदी कराहें या सिसकियां उभरतीं, फिर गुम जातीं। दुर्दांत युद्ध ने किस-किस कुल और वय के वृक्ष निगले, पौधे झुलसाये—याद नहीं। याद रह गया है सिर्फ विगत !

चलते-चलते कर्ण सहसा थम गए। शिविर में इधर-उधर देखा। दृष्टि ने जैसे किन्हीं चीजों को खोजा फिर वे क्रमशः उन्हें बटोरने लगे··· उत्तरीय कन्धे पर डाला, एक ओर रखी खड़ाऊं पहनीं, धीमे-धीमे शिविर-द्वार की ओर बढ़ चले···

विगत ! लग रहा था कि हर कदम के साथ यह शब्द माथे में कौंधने लगा है—

शिविर-द्वार पर खड़े प्रहरी सजग हुए। कर्ण ने उनकी ओर नहीं देखा। तेजी से युद्ध-शिविरों को पार करते हुए जंगल की ओर बढ़ चले··· समय का इस समय भी ठीक तरह अनुमान नहीं हो रहा था। लगता था

कि रात के बिचौले प्रहर में हैं। एक पल के लिए विचार भी आया—इतनी जल्दी गंगा किनारे पहुंचकर क्या करेंगे ? सूर्योदय में तो अभी बहुत समय शेष है ?

किन्तु चलते गए। मन में उनमें प्रश्न का समाधान खोज लिया था। पुण्या गंगा के किनारे बैठकर लहरों के संगीत में खो जाएंगे—अच्छा लगेगा।

अपनी ही पदचापों ने ध्यान खींच लिया···इसके साथ ही फिर से माथे में कौंध हुई—विगत !

कितनी विचित्र स्थिति है ? कर्ण ने सोचा—लगता है जैसे भूत, वर्तमान और भविष्य की सनातन प्रक्रिया में ही कुछ अवरोध आ गया है··· वर्तमान और भविष्य तो लगभग गुमने को हो आए हैं। जो है, वह केवल विगत शेष है ! एक कर्ण के भीतर ही क्यों, इस महासमर से जुड़े हर छोटे-बड़े के लिए केवल विगत ही शेष है।

वर्तमान और भविष्य अपनी-अपनी तरह अवश्य ही कुछ-न-कुछ रहेंगे···पर कर्ण को लग रहा है कि वे महत्त्वहीन हो उठे हैं।

क्यों ? किसी अदृश्य ने प्रश्न कर दिया है।

इसलिए कि वर्तमान है यह वीभत्स युद्ध···और युद्ध का हर दर्शित—अदर्शित-सा। इस सबका आगत—अनिश्चित !

यदि किसीके लिए कुछ सोच पाना संभव रह गया है तो केवल विगत। अनायास ही यह विगत कर्ण के भीतर घटाओं की तरह उमड़ आया है···बरस पड़ने को आकुल···उनके कदम अनजाने ही तेज-तेज चलने लगे हैं—अवश। उतने ही अवश जैसे मन विगत के किनारे पकड़ने को आतुर विचारलहरों पर दौड़ता हुआ।

बेचैनी बढ़ गई है···बहुत कोशिश कर रहे हैं कि विगत से न जुड़ें। उस किनारे से कतराए रहें जो अक्सर ही उनका मन सम्बल समझकर थाम लेता है···पर लगता है कि शक्तिहीन हो गए हैं · मन है कि उनकी आत्मशक्ति के जाल से किसी मछली की तरह फिसल जाता है · फिर किनारे पर खड़े विगत के शूल-वृक्ष को सम्बल समझकर बढ़ता है··· अगले ही पल उसके पास !

कर्ण ने चलते-चलते बहुत थकान महसूस की। पाया कि मन ने दोनों बांहें फैलाकर उस वृक्ष को जकड़ लिया है ! आगत का शूल-वृक्ष !

उन्होंने अपने को ही चीखते अनुभव किया। बहुतेक विगत-शूल मन के आर-पार हो गए। उन्हें ही लहूलुहान करते हुए···समाज-परम्पराओं, सम्बोधनों, अपमानों और तिरस्कारों के असंख्य शूल !

विगत का हर पल, पल का हर स्मरण, स्मरण से जुड़ा हर श्वांस—छोटे-बड़े शूलों का अन्तहीन सिलसिला और हर बार घायल होते, कराहते रहे कर्ण !

विगत ! विगत ! विगत !

कौन विश्वास करेगा कि इस दमदमाती देह, बलिष्ठ शरीर और राजसी व्यक्तित्व का रोम-रोम अदृश्य शूलों से छलनी हुआ पड़ा है ! कौन सुन सकेगा कर्ण के भीतर से निरन्तर उठती रहीं चीत्कारें !

शायद कोई नहीं··· कर्ण ने सोचा। मन हुआ कि अपने से ही कह दें—जिस भाग्यहीन की माता ही इन शूलों को नहीं देख सकीं, चीखों को नहीं सुन सकीं—उसके लिए दूसरों से अपेक्षा करना मूर्खता है !

चलते-चलते लड़खड़ा उठे। पुण्यसलिला गंगा के घाट पर आ पहुंचे थे। यहां तो ऐसा कुछ है नहीं, जिससे ठोकर लगी हो ? तब यह लड़खड़ाहट ? स्वयं को थामा। मन नदी की खिलखिलाहटों से जोड़ लेना चाहा··· जी हुआ कि उतने ही निर्मल भाव से अपने भीतर भी हंसी समो लें···

साथ लाया हुआ कुशासन एक ओर बिछाया—बैठ गए। अन्धकार के कारण नदी और तट-क्षेत्र कितनी दूर से प्रारम्भ होता है—तय नहीं कर पा रहे थे, किन्तु जल की अठखेलियां और लहरों की खिलखिलाहटें स्पष्ट सुनाई दे रही थीं। उन्हीं से अनुमान कर लिया था कि तट पर हैं···

न जल से बहुत दूर, न जल के बहुत पास।

पुनः इच्छा जागी थी कि मन को खिलखिलाहटों से जोड़ें—कुछ पल विगत-स्मरण से मस्तिष्क को मुक्ति दें, शांत हों—पर लगा असम्भव है ?

क्या कर्ण की एकाग्र-शक्ति में कमी आ रही है ?

नहीं ! अपने आपको विगत से परे नहीं कर पाते हैं तो इसका कारण उनकी आत्मशक्ति या एकाग्रता में कमी नहीं, अपितु आत्म-न्यायाधीश है, जो जाग्रत होकर न्याय करने बैठा है !

इसे सारे जीवन दबाया-कुचला कर्ण ने ! कभी सोचा कि कीर्ति-अर्जन करके विगत के हर सुख-दुःख को जीवन से गुमा देंगे, किसी पल सोचा कि दानशक्ति से अपनी असहनीय पीड़ा के कारण निरन्तर करते जा रहे पाप-षड्यन्त्रों को पुण्य में बदल देंगे, कभी सोचा कि शक्ति और क्षमता से जिस सफलता को पाएंगे, उसमें अपने प्रति किए गए दोषों को भी मिटा देंगे और उन दोषों के कारण प्रतिक्रिया में स्वयं से हुए दोष भी नष्ट कर डालेंगे ! आत्म-न्यायधीश की आवश्यकता ही न होगी !

पर कुछ भी नहीं कर सके ! न पाप को पुण्य बना सके, न दोषों को दान धर्म से मिटा सके, न ही किसी के दोष में प्रत्युत्तर स्वरूप हुए अपने निरन्तर दोषों को न्यायिक या उचित ठहरा सके !

निर्णायक युद्ध-बेला के इस पूर्व-काल में कुचला हुआ न्यायाधीश सहसा उबर आया है···कर्ण से कहीं शक्तिशाली, कहीं क्षमतावान् और कहीं अधिक समर्थ !

दीखता नहीं है वह, किन्तु कर्ण उसके हर प्रश्न का उत्तर देने को बाध्य हुए हैं ! या यों कि वह अपनी असामान्य शक्ति से कर्ण के भीतर ही छिपा उत्तर खोज निकालता है !

ढेरों प्रश्न हैं, ढेरों उत्तर !

उन सबके बीच हैं कर्ण के अन्तिम युद्ध का निर्णय !

धर्मा-धर्म का लेखाजोखा !

इस लेखे-जोखे में कर्ण के प्रति हुए दोष भी हैं, और कर्ण के द्वारा जवाब में किए गए अनेक दोषों की शृंखला भी है ! वे घटनाएं भी हैं, जब कर्ण ने

दोष को जानते हुए भी दोष-मार्ग का ही अनुसरण किया ! नितांत पाप !

लगता है कि गंगा की लहरें खिलखिला नहीं रही हैं—प्रश्न कर रही हैं ! चीखते, चीरते हुए प्रश्न…

"दोष का प्रत्युत्तर दोष तो नहीं होता, महावीर ? पाप का उपचार या कि प्रत्युत्तर पाप नहीं हो सकता ? यदि कुन्ती तुम्हारे अनुसार दोषी हैं, तो तुम्हारे अगले दोष इस कारण उचित नहीं हो जाते ?"

"किन्तु…किन्तु…" कर्ण बड़बड़ा उठे हैं। लहरों की तरह मन में उमड़ता-बहता आत्म उनका स्वर सुन पा रहा है, या नहीं—नहीं मालूम। इतना मालूम है कि वह जूझ रहे हैं…अपने और सबके गुण-दोषों के इस निर्णायक क्षण में जूझ रहे हैं। कहते हैं—"जन-उत्सव में हुए उस अपमान का दोषी कौन है ? मैं ही नहीं, कोई कैसे भूल सकता था उस क्षण को, जब उसके अस्तित्व को ही पाप घोषित किया जा रहा था ! उसके वांछित अधिकार को तथाकथित कुलीनता ठोकरें मारती हुई सार्वजनिक उपहास और धिक्कार का विषय बना गई थी ?" उनकी आवाज सहसा तीखी हो गई है…आवेश में श्वांस-गति बढ़ी हुई—"मेरे दोष ढूंढ़ने के पूर्व उस दोष को अनदेखा नहीं किया जा सकता ?"

"सुनो…" एक गुनगुनाहट की तरह मन उनके तर्क को थामने का प्रयत्न करता है, पर वे जैसे चीखकर इस गुनगुनाहट को काट डालना चाहते हैं…निरन्तर बोलते हुए, निरन्तर आरोप लगाते हुए—"…उस पल मैं समझ नहीं सका था कि कुन्ती बेसुध क्यों हुई थीं ? पर जब मालूम हुआ तब मुझे उनसे घृणा हुई थी ! उस तथाकथित कुलीनता और राज-गौरव के झूठे आडम्बर से घृणा हुई थी ! क्यों न होती भला ? मेरे पास कृपाचार्य की बात का उत्तर नहीं था, पर मेरी जन्मदायिनी के पास तो था ? वह—जो भव्य कुरु-कुल और वंश के सर्वोच्च आसन पर बैठी थी ? वह जो मुझे सार्वजनिक अपमान के सागर में डूबते-छटपटाते देख रही थी…वह क्यों नहीं याद करते तुम ? वही याद करो ! उस सबको याद करो…वहीं से याद करो !"

हांफ गए हैं कर्ण…स्वर भी भर्राया हुआ…ऐसे, जैसे भीतर-ही-

भीतर रो लिए हों··· बोले नहीं हों—सिर्फ रोये हैं। गला भर्रा जाने तक बिलखते रहे हों···

उस दिन भी हांफ गए थे ! कुछ बोल सकेंगे—इसी में शंकित हो उठे थे कर्ण ! संभवतः गला भर आया था उनका। बहुत थके हुए—रुलाई से थके हुए !

कुल ?···वंश ?···और माता-पिता का नाम-परिचय ?···

हर शब्द बड़ी सहजता और नम्रता से आया था उनकी ओर, पर कर्ण को लगा था कि भरी रंगभूमि में हर शब्द उनके शरीर में असंख्य बाणों की तरह आ लगा है। कर्ण हर ओर से लहूलुहान ! घावों से भरा मन-शरीर लिए मृतवत् स्तब्ध खड़े हुए ?

पुतलियां घूम रही थीं। सब देख पा रहे थे, समझ-सुन भी रहे थे, किन्तु शक्तिहीन होकर ! कृपाचार्य ने जो कुछ कहा था, वह नियम था; किन्तु इस नियम ने अनजाने ही प्रतापी वैकर्तन के भीतर से समूची जीवन-शक्ति, सक्रियता छीन ली थी !

देख रहे थे—धिक्कार फेंकती भीड़ की दृष्टियां ! उपहास भाव से भीष्म और द्रोणाचार्य के सिकुड़े हुए होंठ ! अर्जुन का चमकता और विजय-भाव से उठा हुआ शीश···।

खड़े रहना असम्भव हुआ जा रहा था !

और चले जाना भी असंभव ! लगा था कि आंखें भर आई हैं उनकी अपनी। अपने को ही धिक्कारने-थप्पड़ें मारने का मन हुआ था !

कृपाचार्य ने कुरेदा था उन्हें—'आगंतुक शान्त मत रहो···! उत्तर दो। महारानी कुन्ती के यशस्वी पुत्र अर्जुन तुमसे प्रतिस्पर्धा के लिए तैयार खड़े हैं···बतलाओ, क्या नाम, कुल है तुम्हारा ?"

कर्ण की बेबसी से बुझी आंखों ने दुर्योधन को देखा था···दुर्योधन ने

उनसे क्या समझा—क्या नहीं—यह अज्ञात, किन्तु सहसा वह बोल पड़ा था—"वीरों का परिचय वीरता ही होती है ब्रह्मन् ! वही उनका कुल-वंश परिचय !"

"तुमने सत्य ही कहा है गांधारीसुत, किन्तु यह राजकीय औपचारिकता है, और इसकी पूर्ति आवश्यक है।" कृपाचार्य ने तर्क किया था—"यह नियम है कि राजकुल के व्यक्ति का मुकाबला राजकुल के व्यक्ति से ही हो ! साधारण जन उससे प्रतिस्पर्धा के योग्य नहीं माना जाता ! आगन्तुक को···" अभी शब्द पूरे हों, इसके पूर्व कर्ण बोल पड़े थे—"मेरा नाम कर्ण है और मैं चम्पानगरी का निवासी हूं···"

कृपाचार्य अपने शब्द पूरे करने को ही थे कि कर्ण की कटी बात, दुर्योधन ने झेल ली। कुछ कदम बढ़कर रंगभूमि में वह कर्ण के समीप जा पहुंचे। एक हाथ कर्ण के कन्धे पर रखकर बोले थे—"यदि नियमानुसार यह आवश्यक है कि अर्जुन से प्रतिस्पर्धा के लिए कर्ण भी राजपुरुष हों, तब मैं इसी क्षण उन्हें अंगदेश का राजा घोषित करता हूं···।"

सब ओर सनसनी बिखर गई थी। कुरु-कुल के वृद्ध फुसफुसाते हुए। आचार्य द्रोण और विदुर चिन्तित और व्यग्र हो उठे थे। प्रतापी देवव्रत के भाल पर सिकुड़नें पैदा हुईं, सोच में पड़ गए।

दुर्योधन ने दुःशासन को आदेश दिया था, "बन्धु ! तुरन्त अभिषेक का सामान लाओ। मैं यहीं वीर कर्ण का अभिषेक करूंगा ताकि वह अर्जुन से प्रतिस्पर्धा कर सकें ! यों भी अब कर्ण···अब हमारे लिए केवल एक प्रतिस्पर्धी नहीं मित्र हैं और हमारे सम्पूर्ण राजवैभव, शक्ति, समृद्धि पर उनका मित्रवत् समान अधिकार है !

दुःशासन और कई लोग तुरन्त सामान लाने दौड़ गए।

उस समय तक कर्ण जिस सामाजिक अपमान के आंसुओं को पलकों की कोरों पर थामे रहे थे, वे सहसा आनन्दाश्रु बनकर गालों पर छलक पड़े। दुर्योधन की ओर उन्होंने केवल मित्रता से नहीं, श्रद्धाभाव से देखा था··· लगा था कि कर्ण ने जीवन की सबसे श्रेष्ठ उपलब्धि प्राप्त की है ! राधा की ममता ने यदि कर्ण पर अधिकार कर लिया था तो दुर्योधन के मित्र-स्नेह ने उनका जीवन खरीद लिया था ! जिस समाज, श्रद्धा, वीरता के

परिचय के लिए कर्ण तिलमिला रहे थे, सहसा उसे दुर्योधन ने शीतल गंगा जल से नहला दिया था! जिस आग ने कर्ण को झुलसाये रखा था, उस आग को दुर्योधन मिटा भले न सके हों, किन्तु उस पल सबके सामने उन्होंने झुलसते कर्ण को अपनी बांहों में भरकर बचाने की चेष्टा की थी!

दुर्योधन भरी, ठहरी निगाहों से कर्ण को देख रहे थे···और कर्ण जितने मन से भीगे हुए, उतने ही आंसुओं से भीगे हुए···सहसा कर्ण ने भावावेश में भरकर दुर्योधन को सीने से लगा लिया। बुदबुदा उठे—"मित्रवर! आज का दिन मेरे जीवन का सबसे श्रेष्ठ दिन है। तुम्हारी मित्रता पाकर मैंने एक ब्रह्मनिधि की प्राप्ति की है। राधापुत्र कर्ण इस उपकार के लिए प्रत्येक श्वांस में तुम्हारे प्रति समर्पित रहेगा। तुम्हारे शत्रु, उसके शत्रु रहेंगे, तुम्हारे मित्र उसके मित्र।"

दुर्योधन ने उत्तर नहीं दिया। शायद कर्ण की उस स्नेहिल दृष्टि और रसमय शब्दों का उत्तर नहीं था उसके पास···जो भीतर था, वह कर्ण की पीठ पर आनन्दातिरेक से थपकती उसकी हथेलियों ने व्यक्त किया।

सकपकाहटों और फुसफुसहटों का सिलसिला जारी था...और तभी उस कक्ष की ओर, जिधर कुरु-राजकुल की स्त्रियां बैठी थीं, चहल-पहल हुई थीं। फिर एक नई सनसनी फैली···सनसनी में समाचार—"पांडवजननी सहसा ही मूर्छित हो गई हैं।"

"अरे?" स्वयं कर्ण के मुंह से स्वर निकल गया था।

सुनानेवाला दुर्योधन को सुना रहा था—"देर से अस्वस्थ हो रही थीं वह···पहले जल पिया, फिर भी घबराहट नहीं थमी और कहते हैं सहसा बेसुध हो गईं! अब महात्मा विदुर उनका उपचार कर रहे हैं।

दुर्योधन ने कुछ नहीं कहा। कर्ण ने सोचा था—सम्भवतः देर से रंगभूमि में वीरों का अस्त्र-प्रदर्शन देखने के कारण ही बेसुध हो गई होंगी[1]। बात

---

१. महाभारत : आदिपर्वः के १३९वें अध्याय में श्लोक क्रम २५ से ३० के बीच इस घटना का उल्लेख इस प्रकार है—"···कुन्ती का बड़ा बुरा हाल हुआ। कर्ण और अर्जुन दोनों ही उनके पुत्र थे। उनके परस्पर युद्ध करने की खबर से उनको चक्कर आ गया। धर्मात्मा विदुर ने दासियों की सहायता से चन्दन का पानी छिड़ककर उन्हें सचेत किया। चेत होने पर कवच पहने युद्ध के लिए उद्यत दोनों पुत्रों को देखकर कुन्ती बहुत घबरायीं; पर कुछ न कर सकीं—उन्हें कोई उपाय न सूझा।"

मन से आई गई हो गई थी। इतना सोच लेने के अतिरिक्त कर्ण से कुन्ती की बेसुधी का सम्बन्ध ही कितना था ?

लगता है, जिस बात को इस सहज ढंग से लेकर उस समय उपेक्षा बरत गए थे, वह इतनी असहज थी कि सारे जीवन की पीड़ा बनकर रह गई है। कहां जानते थे कि कभी कुन्ती के अचेत हो जाने की वह असाधारण-सी दिखनेवाली घटना उनके जीवन की सबसे असाधारण घटना बन जाएगी।

याद करते हैं और जबड़े कस उठते हैं। कुन्ती के प्रति एक धिक्कार मन को किन गहराइयों से पसलियों को चीरता हुआ उभर आता है—पता ही नहीं पड़ता !

याद करते है तो लगता है कि कुन्ती की वह अचेतना नहीं थी—चेतना थी ! कुन्ती के अपने भीतर का धिक्कार ! अवश्य ही उस पल कुन्ती को उनके आत्म ने धिक्कारा होगा—"कुल और राज-गौरव की झूठी मर्यादा में उलझी स्त्री ! क्या तू जानती नहीं कि वह जो सार्वजनिक रूप से बेबस कर्ण के साथ घट रहा है—कर्ण का नहीं तेरा अपमान है ! उस सहज प्रेम समर्पण का अपमान है, जो तूने सूर्य के प्रति किया ! उस आशीष का अपमान है जो तुझे दुर्वासा से प्राप्त हुआ !

कुन्ती सह न पाकर बेसुध हो गई थी !

क्या वह केवल कुन्ती की बेसुधी ही थी ?

सम्भवतः नहीं।

बेसुधी की आड़ में वह स्पष्टतः कुन्ती का अन्याय था कर्ण के प्रति ! सत्य की अवहेलना थी। घोर तिरस्कार।

कर्ण कभी नहीं भूल सकेंगे वह तिरस्कार !

इसलिए कर्ण जीवन भर कुन्ती की अवहेलना ही करते रहे हैं···या यों

कि हर कुन्ती पुत्र के प्रति उनके मन में घृणा भर आई है !

युधिष्ठिर का तथाकथित धर्मज्ञ होना ! समूचे पांडवों का बार-बार न्याय के नाम पर कुरु-राज्याधिकार की मांग करना ! कुन्ती का देवी पुकारा जाना ! समाज, राज से मिलनेवाला सम्मान···सब कर्ण की दृष्टि में हेय ! सब कर्ण के लिए घृणा का कारण ! सब, को अस्वीकारना कर्ण का सत्य !

लहरों के स्वर फिर-फिर टकराने लगे हैं माथे में ! लगता है इन स्वरों में आक्रोश नहीं है, पीड़ा की खीझभरी बिलखने समाई हुई हैं ! इन स्वरों को कर्ण ने प्रतिपल सुना है ! प्रतिक्षण उनका दर्द भोगा है !

और उस दर्द ने कर्ण को केवल निषेध बना छोड़ा है ! हर सत्य के प्रति एक नकारात्मक भाव उनके मन में भर गया है। नकार भाव का यह जीवन ही कर्ण की नियति बना है ! असत्य ही उनका सत्य ?

यदि कुन्ती उस पल कर्ण से भरी रंगभूमि में किए गए उस अपमानास्पद प्रश्न का उत्तर बनकर आ खड़ी होतीं, तब क्या कर्ण वही होते, जो आज हैं ? हर सच को झुठलाते हुए ? केवल सत्य का निषेध बने हुए ? अन्याय पक्ष का सेनापतित्व संभाले हुए ? पांडव बन्धुओं के प्रति सदा षड्यन्त्र की रचना में व्यस्त रहे हुए ?

निश्चय ही नहीं ! कर्ण बुदबुदाकर जैसे अपने ही शब्द सुन रहे हैं। अपने ही सवालों का उत्तर बने हुए—"निश्चय ही तब मैं वह नहीं रहा होता, जो आज हूं ? तब मैंने दुर्योधन की दुर्बुद्धि को थाम लिया होता। तब मैं दुःशासन को द्रौपदी के वस्त्र-हरण से रोकता ही नहीं, उसका हन्ता बनता ! पर वह अवसर तो मुझे मेरी माता ने ही नहीं दिया ? जिस समाज-लज्जा की रक्षार्थ कुन्ती ने मुझे त्यागा, वही समाज-लज्जा उस समय कहां थी, जब भरी रंगभूमि में मदमत्त भीमसेन ने मुझे सूतपुत्र कहकर पुकारा था ?"

एक पल के लिए कर्ण को लगा था कि उनके इस प्रश्न पर आत्म कहीं दूर उनके अपने ही भीतर चोरभाव से जा छिपा है—उत्तरहीन !

कर्ण के होठों पर अन्धेरे में ही एक व्यंग्यभरी मुसकान नाच उठी थी —"मुझ पर आरोप लगाने के पूर्व इसी सबका उत्तर देना होगा तुम्हें !

जिस समाज-भय और नारीत्व रक्षा के लिए कुन्ती ने मुझे त्याज्य समझा—वह नारीत्व और समाज-गौरव उस पल आहत क्यों नहीं हुआ। जब भीमसेन ने मुझे गालियां बकी थीं। सच तो यह है कि वे सारी गालियां, सारे लांछन भीम ने मुझ निर्दोष पर नहीं लगाये थे, बल्कि भरी सभा में कुन्ती पर लगाए थे ! और कुन्ती सब सुनती रहीं ?

सोचकर बहुत सन्तोष मिला है··· जब-जब सोचा है, तब-तब यही सन्तोष पा लिया हैं।

भीम बोले थे —"सूतपुत्र ! नराधम ! अकुलीन ! तू तो अर्जुन के हाथों मृत्यु योग्य भी नहीं है ! तुझ जैसे जाति-कुलहीन का वध कर वीर अर्जुन अपने गांडीव को अपमानित नहीं करेंगे ?"

कर्ण की भौंहे चढ़ गई थीं। मांसपेशियां थिरक उठीं। शिष्टाचार का विचार करके केवल हाल में मित्र बने दुर्योधन की ओर देखते रह गए थे। ···केवल देख रहे थे या कह रहें थे—'कुरु राज ! क्या यही मित्र-सम्मान दिला रहे हो तुम ? तुम्हारे कुल-बन्धु ही तुम्हारे मित्र को इस तरह अपमानित-लांछित करें ?

उस पल भी दुर्योधन ही कवच की तरह उस समाज-धिक्कार के उत्तर में आ खड़ा हुआ था भीम और कर्ण के बीच—"दुर्मति भीम ! क्या तुम जानते नहीं हो कि अब कर्ण राज पुरुष हैं ? अंगदेश के महाराज ! उनका मूल्यांकन, जाति-कुल आदि का निर्धारण कायरों की तरह दुर्वचन बोल देने से नहीं, उनके समान वीरता के प्रदर्शन से ही सम्भव है ! तुम वही करो ! अपने भाई अर्जुन से कहो कि वह रंगभूमि में मेरे मित्र का सामना करे और अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध कर दिखाये !"

खासी तू-तू मैं-मैं होने लगी थी कौरव पांडव बंधुओं के बीच और कर्ण

ने उस प्रतिक्षण अपने-आपको दुर्योधन के करीब और करीब होते पाया था ! क्यों न पाते ! उन धिक्कारों, लांछनों, और अपमानों के समुद्र में डूबते हुए कर्ण को उबारने के लिए वही तो आया था।

उस दुर्योधन को कभी नहीं भूल सकेंगे कर्ण ! कभी भूल भी नहीं सके हैं ! वह केवल मित्र नहीं, बन्धु, सखा और साथी सभी कुछ रहा है। उसने जाति-कुल गौरव का तथाकथित दंभ किनारे रखकर उन्हें सार्वजनिक तौर पर छाती से लगाया था ? उस छाती से लगाया था, जिसके लिए कर्ण बचपन से ही तड़प रहे थे।

काश ! कुन्ती उस पल कर्ण को सीने से लगा सकी होतीं ? स्मरण-मात्र से वे छाले ज्यादा जल उठते हैं, जो कर्ण के सीने पर पड़े हुए हैं ! जन्म के साथ किसी और ने नहीं उनकी अपनी माता ने दिए हैं।

दुर्योधन ने इन्हीं छालों को मित्र-स्नेह से सहलाया था। तब, जब कि कुन्ती चाहतीं तो एक शब्द स्वीकार के साथ कर्ण के छालों को सदा-सदा के लिए लुप्त कर सकती थीं।

किन्तु कुन्ती ने जानबूझकर ऐसा नहीं किया था···कर्ण के प्रति निरंतर अन्याय ही किए गई थीं वह ?

तब भी अन्याय किए गई थी, जब उसी रंगभूमि में एक और घटना घटी ! बेटे को निरन्तर अपमानित-ताड़ित होते देखकर भीड़ में खड़े अधिरथ लाठी टेकते हुए बाहर निकल आए थे। कर्ण के आत्म पर चलते समाज-ताड़ना के उन प्रहारों से हो रहे घाव सहलाना चाहते थे अधिरथ ! या कि उन घावों के हिस्सेदार बनने आ पहुंचे थे वह !

चेहरे पर घबराहट, चिन्ता और व्यग्रता के साथ-साथ पुत्र को अंगदेश का राजत्व पा जाने की खुशी भी थी अधिरथ की आंखों में।

कर्ण, वृद्ध सूत-पिता को आता देखकर आगे बढ़े थे, गले लगा लिया था। आत्मपीड़न के उस क्षण में अधिरथ के स्पर्श से जो सहानुभूति झरी, उसने कर्ण को रुआंसा कर दिया।

धिक्कार ज्यादा और ज्यादा बरसने लगे !

"सारथी पुत्र !" कहीं कोई स्वर उठा था।

कण को याद है—वह स्वर जन समुदाय के बीच से नहीं, कुरु-राज-

पुरुषों की पंक्ति से उठा था !

"सूतपुत्र ! छिः ! अपवित्र ! कुलीन !"

वह भी राजपुरुषों के कक्ष से !

स्त्रियों की ओर से उभरीं कुछ व्यंगभरी फुसफुसाहटें और धिक्कार से भरीं खिलखिलाहटें !

कर्ण ने उस दिन कितनी-कितनी बार अपने भीतर उमड़ते क्रोध को थामा, याद नहीं···पर बहुतेक बार थामा था ! बहुतेक बार अपने ही भीतर विष के कितने ही घूंटों की तरह उन धिक्कार-भरे स्वरों और टिप्पणियों को पिया।

पिया, पर पचा नहीं सके !

क्यों पचाते ?

समाज से मिले विष को पचाना साधु का काम हो सकता है—और कर्ण साधु नहीं ! सूर्यपुत्र हैं ! क्षत्रिय ! वीर, जो प्रहार का उत्तर प्रहार से दिया करते हैं !

"पर तुम भूल रहे हो कर्ण ! बहुत कुछ भूल रहे हो !" लगता है कि अन्धकार की सिकुड़ती चादर धीमे-धीमे आकाश में एक स्वर गूंजाती हुई भागी जा रही है कुछ याद दिलाती हुई···

कर्ण ने चौंककर यहां-वहां देखा···अंधेरा अब धीमे-धीमे धुंधलका बनने लगा है। इस धुंधलके में गंगा की लहरों की दिशा, आकार भी कुछ-कुछ स्पष्ट होता हुआ···

स्वर अब भी माथे से ऊपर गूंज रहा है। इस आवाज को पहचानते हैं कर्ण। यह उनकी अपनी आवाज है ! अपना सवाल !

"हां, भूल गए हो कर्ण ? भूल गए हो कि तुमने क्षत्रिय भाव से व्यव-

हार कम ही किया है इस कूटजाल से भरे समय में।"

"क्या···क्या किया है मैंने ?" उत्तेजना पर काबू नहीं रख पाते हैं मृत्युंजय। प्रश्न से प्रश्न।

उत्तर में गूंज अधिक तीव्र हो उठी है—"प्रहार के उत्तर में प्रहार करना निश्चय ही क्षत्रिय धर्म होता है वैकर्तन ! पर तुमने प्रहार कहां किया पांडवों पर ? तुमने तो केवल छल किया ? कूटनीति का जहर फैलाया कौरव-पांडवों के बीच ? केवल षड्यंत्र किये।

"न-नहीं···नहीं।" बुदबुदाकर इनकार करना चाहा है, पर लगता है कि आवाज बहुत घुटी है। बहुत कमजोर। सत्य का सामना करने में असमर्थ एक पिटी हुई चेष्टा भर।

और उत्तर हावी होता हुआ—"हां, यही सच है, वैकर्तन ! तुमने वीरों की तरह किसी बार प्रहार का उत्तर प्रहार से नहीं दिया, बल्कि केवल छल और षड्यन्त्रों का आसरा लिया। कितनी बार ?"

फिर आत्म याद दिलाने लगा है वे घटनाएं, जब कर्ण प्रहार के उत्तर में प्रहार न करके दुर्योधन की दुर्बुद्धि ही बनते चले गए।

अपने ही भीतर निरुत्तर होने लगे हैं वह।

धुंधलके में गूंजती दिशाएं उन घटनाओं का एक सिलसिला बयान किए जा रही हैं, जब महावीर कर्ण ने अपनी गुण-शक्ति के विपरीत केवल छल जालों की रचना की ! केवल षड्यंत्र बुने ! अपने ही भाइयों के प्रति षड्यंत्र ! अपने ही रक्त के प्रति षड्यंत्र !

वे घटनाएं···

उन घटनाओं को याद किए बिना संभवतः कर्ण अपने इस अन्तिम युद्ध को न तो जीत ही सकेंगे, न हार सकेंगे···और जीत-हार का निर्णय आवश्यक है। इसीलिए याद करने को बाध्य हैं !

अपने आपको वीर, पराक्रमी और क्षत्रिय पुत्र कहने वाले कर्ण ! ''प्रश्न अनायास ही धिक्कार की तरह सब दिशाओं से घनगर्जना कर उठे हैं।'' याद करो उस क्षण को जब तुमने अवश, असहाय द्रौपदी को नग्न करने की घिनौनी सलाह दुःशासन को दी थी ? क्या वह तुम्हारा वीरत्व था ? नहीं, वैकर्तन ! वह केवल तुम्हारी कायरता थी ! कुंठित और झुंझलाए हुए व्यक्ति की नीचतापूर्ण चेष्टा।''

कह देना चाहते हैं – ''नहीं''' नहीं ! ऐसा नहीं है'''' पर शब्द सोच-भर सके हैं, प्रश्न पर उलटकर उसी गति से प्रहार कर पाना कठिन ! अपने भीतर से उस घटना के लिए तर्क भी खोज लेना चाहते हैं– कह देना चाहते हैं कि उसका कारण कर्ण की कुंठा नहीं, केवल द्रौपदी और पांडवों के प्रति घृणा थी।''

किन्तु घृणा करना तो वीरों का काम नहीं होता सूर्यपुत्र ? वीर का काम तो युद्ध करना है ! षड्यंत्र उसका स्वभाव नहीं। फिर द्रौपदी जैसी स्त्री के प्रति, जो उस समय अपने पतियों को धर्मा-धर्म की दुविधा में पाकर असहाय भाव से समूचे पौरुष से सहायता मांग रही थी ?

कर्ण निरुत्तर हो उठे हैं।

या कि कर्ण के पास उत्तर ही नहीं है।

अपने ही दोषों को नकारे रखने की चेष्टा में कुतर्क सोच-सोचकर अपने को सहज और शान्त बनाए रहे कर्ण अनुभव कर रहे हैं जैसे इस निर्णायक क्षण में, जबकि उनके अपने भीतर का न्यायाधीश जाग्रत हो उठा है—उन कुतर्कों को तर्क बनाकर प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे। वह घटना याद हो आई है'''उसी तरह याद हुई है, जिस तरह बहुत पहले याद हो आयी थी'''

और उसके साथ ही स्मरण हो आया है वह सत्य, जिसे अपने ही भीतर सदा दबाए रहे थे। षड्यंत्र और उस षड्यंत्र का सत्य, जिसे आज अन्तिम युद्ध-क्षण में आत्म ने मन के दूर छिपे कोने से खोज निकाला है'''

सत्य तो यह है कर्ण कि द्रौपदी के प्रति ईर्ष्यालु थे तुम ? घृणा करते थे। घृणा भी इस सीमा तक कि उस नारी के प्रति तुम बदले की भावना से भर उठे थे !

"नहीं-नहीं…" कह देना चाहते हैं, पर लग रहा है जैसे न बोल सके हैं, न बड़बड़ा पाए हैं, केवल हांफ कर रहे गए हैं…

"इस सीमा तक तुम गिर गए थे मृत्युंजय कि तुमने उस दिन यह भी विचार न किया था कि द्रौपदी तुम्हारे भाइयों की पत्नी है! यहां तक कि तुमने उसके प्रति अपशब्द कहे थे… उसे व्याभिचारिणी और कुलटा तक कह डाला था! तुमने उस दिन द्रौपदी को उस कृष्णा-भर के रूप में देखा था, जिसने कभी तुम्हारा सार्वजनिक अपमान कर दिया था।

लगा है कि दौड़ते-दौड़ते हांफने लगे हैं। विगत के अंधेरे में विस्मृत मार्ग पर दौड़ने और उसे पाने की चेष्टा में यह सहज ही है…

द्रौपदी स्वयंवर की बात है!

लगता है कि हांफते-हांफते वहीं आ थमे हैं—जहां द्रौपदी के लिए वर का चुनाव हुआ था…द्रौपदी के ही द्वारा।

महाराज द्रुपद ने स्वयंवर आयोजित किया था…भरत खंड के अनेक राजा-महाराजा और कुलीन क्षत्रिय उपस्थित हुए थे वहां…शिशुपाल, जरासन्ध, शकुनि, वृषक राजा विराट और दुर्योधन, कर्ण सभी…

एक-से-एक धनुर्धर! एक-से-एक योद्धा!

द्रुपद कन्या अतीव सुन्दरी थी। नाम—कृष्णा! पर सांवला रंग सौंदर्य और छवि के अद्‌भुत मेल ने आकर्षण का तीव्र कारण बनाया।

द्रुपद ने उपस्थित योद्धाओं का समुचित आदर-सत्कार किया था। पांडवों को लेकर सभी ओर समाचार फैला हुआ था कि वारणावत के के लाक्षागृह की अग्नि में जल मरे—दुर्योधन और कर्ण आश्वस्त थे कि अर्जुन इस स्वयंवर में अनुपस्थित रहेंगे!

द्रौपदी जिस क्षण स्वयंवर सभा में उपस्थित हुई, उससे पूर्व द्रौपदी

को जय करने के लिए प्रतियोगिता रख दी थी···

दुर्लभ और कठिन प्रतियोगिता थी वह।

सभागार के बीचोबीच एक चक्र लटकाया गया था। इस चक्र के ऊपर एक कृत्रिम मछली टंगी हुई थी। प्रतियोगी को चक्र के नीचे, धरती पर बैठकर एक कठोर धनुष-बाण द्वारा घूमते हुए चक्र के बीच संधान करना था। इस संधान में उसे ऊपर देखने की स्वीकृति नहीं थी, अपितु चक्र पर घूमती मछली के ठीक नीचे पृथ्वी पर एक तेल कुंड बना हुआ था। शान्त तेल के भीतर जो प्रतिछाया पड़ रही थी, उसकी ओर देखते हुए मछली का लक्ष्य-बेध अनिवार्य था।

अति दुष्कर प्रतियोगिता।

किन्तु इस दुष्कर प्रतियोगिता से ही तो अपूर्व सौंदर्यमयी द्रौपदी प्राप्त होनी थी।

हर राजा की दृष्टि सुन्दर, सुकुमार, सुगठित देहवाली कृष्णा पर ठहरी हुई। अंग-प्रत्यंग इस कदर सजे-संवरे और सुडौल थे कि दर्शन मात्र से शरीर में उत्तेजना होती! उपस्थित सभी राजाओं ने इस उत्तेजना को अनुभव किया था।

कर्ण भी तो मुग्ध भाव से उस सौंदर्य-रस को दृष्टि से पीते रह गए थे···किन्तु सहज हुए। स्वयं को संभाला। साथ बैठे मित्र दुर्योधन को देखा। दुर्योधन की आंख कृष्णा पर टिकी हुई···इस टिकी आंख में आकर्षण ही नहीं, भूख की बेचैनी भी देखी थी कर्ण ने! मन ने कहा था—'कर्ण! द्रौपदी पर दुर्योधन का अधिकार होना चाहिए! यों भी इतनी सुन्दर राजकन्या विशाल कुरु राज्य की रानी होने के योग्य ही है।'

किन्तु दुर्योधन के लिए उसे प्राप्त करना कठिन! वहम उभर आया था। सहज था यह संशय। जिस तरह की कठिन स्थिति में मत्स्य-बेध करना था, वह कर्ण जैसे धनुर्धर के लिए ही संभव!

"तब मैं दुर्योधन के लिए द्रौपदी को जय करूंगा!" कर्ण ने अपने भीतर निर्णय ले लिया था।

द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न ने प्रतियोगिता की घोषणा की। एक सनसनी फैली·· फिर फुसफुसाहटें उभरीं और उसके बाद दर्पभरी कई दृष्टियों ने

कृष्णा को इस तरह घूरना प्रारम्भ किया जैसे वे सभी उसे पा लेंगे !

द्रुपद-कन्या के सामने एक स्वर्ण-थाल में बहुमूल्य वरमाला रखी थी…अभी, कुछ पल बाद कोई विलक्षण धनुर्धर लक्ष्य-बेध करके द्रौपदी का अधिकारी बन जाएगा और लज्जा से लदी हुई राजकन्या यह वरमाला उसके गले में डाल देगी।

घोषणा के बाद क्रमशः राजाओं के नाम पुकारे जाने लगे…फिर वे क्रमशः उठे…एक के बाद एक…

शल्य, शाल्य, दुर्योधन, कलिंगराज, सुनीथ, वक्र…अनेक !

किन्तु यह क्या ? कर्ण ने विस्मय से देखा—लक्ष्य-बेध तो दरकिनार, वह धनुष संभालना ही बहुतेरे राजाओं के लिए असंभव साबित होने लगा ! कठोर धनुष को उठाकर उसकी डोर खींचना कठिन…

अधिकतर राजाओं की यही दशा हुई थी। सम्पूर्ण बल, चेष्टा और कुशलता के साथ राजा लोग धनुष उठाते, प्रत्यंचा खींचने की चेष्टा करते और या तो धरती पर गिर पड़ते या धनुष हाथ से उछलकर दूर जा पड़ता ! एक वज्र टंकार उठती और फिर उपहासात्मक टिप्पणिया उठतीं, "धिक्कार ! न भाग लिया होता इस स्वयंवर में तब अधिक अच्छा होता !"

हंसी और हंसियों के अनेक ठहाके।

कर्ण की तीव्र दृष्टि धनुष, उसकी डोरी, लक्ष्य-बेध के बिन्दु सभी को बहुत नुकीली नजर से देखती हुई ! अब क्रम उनपर आने को ही था ! उस पल काफी पीड़ित हुए थे, जिस पल दुर्योधन असफल हुए। पिटा चेहरा लिए, दृष्टि झुकाए चुपचाप कर्ण के पास आ बैठे…कर्ण ने जबड़े कस लिए। निर्णय मन में अधिक दृढ़ किया—"यह लक्ष्य-बेध तुम्हें करना ही होगा कर्ण ! वीरत्व प्रदर्शन के लिए नहीं। मित्र की कृष्णा को पाने की इच्छा के लिए !"

"प्रतापी अंगराज !" एक स्वर उठा और उसके साथ ही दीर्घकाय, मृत्युंजय आसन से उठकर धनुष की ओर बढ़े…

धनुष तेल-कुंड के पास रखा था। चमचमाता, हंसता, चुनौती देता हुआ, जैसे कह रहा हो—"आओ वीर ! मेरी प्रत्यंचा चढ़ाकर अपने बल

का प्रमाण दो।

कर्ण की दृष्टि धनुष पर थी···अगले ही पल उनका हाथ धनुष की ओर बढ़ गया था···

किन्तु छू नहीं सके ! सहसा एक कोमल, किन्तु विद्युत-सी सनसनाती हुई आवाज ने उनके बढ़े पंजे को हवा में ही थाम लिया···

"नहीं !"

सभी चौंके। दुर्योधन ने चकित होकर आवाज की दिशा में देखा। कर्ण आश्चर्य से उसी ओर देखने लगे···किसकी आवाज है ?

प्रश्न पूछने-जानने का अवसर नहीं आया था। अगले ही पल द्रुपद-कन्या विद्युत की ही तरह आसन से उठ खड़ी हुई थीं। स्वर कौंध से भरा हुआ था, सौंदर्य तेज से दमकता हुआ, "नहीं ! मैं सूत-पुत्र से विवाह नहीं कर सकूंगी !"

सब स्तब्ध हुए। सन्नाटा इस तरह वातावरण को निगल गया जैसे सूर्य को ग्रहण ने ग्रसा हो !

कई राजाओं के चेहरों पर घबराहट, चिन्ता और बेचैनी की कालिख पुती हुई। स्वयं राजा द्रुपद की श्वांस गति तीव्र हो उठी। एक ओर बैठे यदुवंशी बलराम भी सकपकाए हुए से वह अकल्पित दृश्य और स्थिति देखते रह गए। श्रीकृष्ण साथ थे। कर्ण को सिर से पैरों तक घूरते हुए। प्रतापी अंगराज का बहुत नाम सुना था उन्होंने। ज्ञात था कि दुर्लभ और दुष्कर योद्धा हैं। यह भी कि पांडव पुत्रों के लिए दुर्योधन से कहीं अधिक चिन्ता और व्यग्रता का कारण हैं—कर्ण ! सूतपुत्र कहे जाने वाले, किन्तु तेज में सूर्य को तरह दमकते कर्ण को जब कृष्ण ने देखा तो विश्वास नहीं कर सके थे कि जो कहा-सुना जाता है उन्हें लेकर, वही सत्य है !

असंभव ! कर्ण सूतपुत्र नहीं !

तब कौन हो सकते हैं कर्ण ?

कृष्ण निष्कर्ष नहीं निकाल सके थे। निष्कर्ष पाने की व्यग्रता में केवल कर्ण के उस अद्भुत व्यक्तित्व को घूरते हुए।

कृष्ण भी चिन्तित हो उठे थे। द्रुपद-कन्या के स्पष्ट संभाषण ने प्रतापी वृष को केवल प्रतियोगिता में भाग लेने से नहीं रोका था। अप-

रोक्ष रूप से अपमान का इतना तीखा थप्पड़ मार दिया था, जिसने कर्ण के स्वर्णिम चेहरे को सहसा तपे हुए अग्नि के गोले में परिवर्तित कर दिया। चारों ओर सहम और भय का वातातरण फैल गया !

ग्रहण !

हां, सूर्य ग्रहण ही हुआ था उस दिन !

'सूत-पुत्र' का यह लादा गया समाज-सम्बोधन ! कर्ण जब-जब याद करते हैं, विद्रोह से उनके भीतर अग्नि सुलगने लगती है ! कुन्ती के एक दोष ने कर्ण से उसके जीने का अधिकार छीन लिया था। सारे जीवन एक ऐसी स्थिति भोगी कर्ण ने, जिसमें जीने का सहज समाज-अधिकार भी नहीं पा सके वह !

उस पल लगा था उन्हें जैसे द्रौपदी ने उनके प्रति दोष किया है। उसी को लेकर वे मन-ही-मन प्रण-बद्ध हो गए थे—"पांचाली ! एक दिन तुझे इस अपमान का पूरा-पूरा मूल्य चुकाना होगा। इसी तरह, भरी सभा में कर्ण तुझे अपमानित करेगा !

पर नहीं—कर्ण ने संभवतः भूल की !

दोष पांचाली का नहीं, दोष तो था उस व्यवस्था का जिसने वह घिनौना सम्बोधन ढोने के लिए कर्ण को बाध्य किया।

किन्तु उस पल कर्ण को लगा था कि दोषी द्रौपदी ही है। मन की एक साध को जैसे थप्पड़ मारकर द्रौपदी ने तोड़ा था ! बात केवल उस सामाजिक अपमान से भरे संवाद भर की नहीं है, संभवतः बात है कर्ण की उस इच्छा की, जिसके अनुसार वह द्रौपदी को जय करके मित्र को ठीक उसी तरह भेंट करना चाहते थे जैसे कभी दुर्योधन को आश्यवस्त किया है कि कुरुक्षेत्र युद्ध जय करके समूचे भरत खंड का राज्य उसे सौंप देंगे !

पर द्रौपदी···उसके वे शब्द ? वह धिक्कृत दृष्टि ? वह सामाजिक अवहेलना ?

नहीं भूलेंगे कर्ण ! कभी नहीं भूल सकेंगे !

भूल भी कहां सके ?

भूल पाए होते तो प्रतिशोध की अन्धाग्नि में जलकर अपनी ही कुल-वधू को उस तरह भरी सभा में नग्न करवाने की चेष्टा की होती ?

संभवत: नहीं !

पर वह पल कभी नहीं भूल सके कर्ण !

सूर्य आकाश पर सम्पूर्ण प्रभा से हंस रहे थे उस पल···प्रकाश किरणों के एक समुद्र में सम्पूर्ण पृथ्वी डूबी हुई···

किन्तु विचित्र स्थिति ? प्रकाश समुद्र के बावजूद लगा था कि सूर्य को ग्रहण ने ग्रसा है !

अपमान-ग्रहण ! एक काला, घिनौना अन्धकार जो घृणा के विष से भरा हुआ हो !

कर्ण के चेहरे पर उतर आया था यह ग्रहण ! इच्छा हुई थी कि द्रुपद-कन्या का इसी क्षण हरण कर लें ! सामने आने वाले किसी भी राजा को हत करें और रक्त-रंजित युद्ध करते हुए कृष्णा को ले भागें, फिर ताड़ना-प्रताड़ना देते हुए उन सारे शब्दों का हिसाब चुकाए जो कृष्णा ने उनसे कहे हैं !

किन्तु राज्य नियम, विचार और शिष्टाचार ने जकड़ रखा था उन्हें। एक गहरा श्वांस लेकर विष-घूंट को भीतर उतार लिया था ! कितनी आंतें उस विष ने काटी और किस सीमा तक भीतर-ही-भीतर छलनी कर डाला—वह सब सोचने का समय न था। निर्लज्ज और धृष्ट अभिनय भाव से हंसे थे, एक दृष्टि सूर्य की ओर उठाई थी, जैसे हलके गुनगुने शब्दों में पिता से शिकायत की हो—"देखते हो देव ! तुम्हारा तेज किस असम्मान को ढो रहा है ?" फिर चुपचाप अपने आसन पर आ बैठे थे।

पांडव-कौरव राजकुमारों की युद्ध-परीक्षा के रंगस्थल में पिए विष-घूंट के बाद दूसरा विष-घूंट था वह !

नहीं पचा सके !

इतना अपच हुआ कि उन्हें पचाने की चेष्टा में एक के बाद एक दुनीतियां किए गए ! किसी बार अपने-आपको सूत-पुत्र कहकर अपने ही प्रति निर्ममता और कटुता से हंसे, किसी बार द्रौपदी को भरी सभा में नग्न करवाने के अतिरिक्त कटुतम वाक्य बोलकर उसका उपहास किया ! प्रतिशोध और कुंठा की इस घिनौनी अग्नि ने बुद्धि-तंतुओं को केवल क्षतिग्रस्त ही नहीं कर डाला था, अपितु लगभग नष्ट कर दिया। इस सीमा तक कि सारे जीवन गांभीर्य के नाम पर कटुता ही उंडेलते रहे। कभी भीष्म पितामह को कटु वचन बोले, कभी अहंकार भाव से अर्जुन के वीरत्व को धिक्कारा। कभी बालक अभिमन्यु के प्रति हिंसा में ग्रस्त होकर षड्यंत्र कर बैठे।

"अच्छा नहीं किया कर्ण ! तुमने अपने वीरत्व, पराक्रम, दान और ज्ञान तक को लांछित कर दिया !" धुंधलके के साथ लहरें काफी कुछ स्पष्ट हो उठी हैं···इन लहरों की गति से ही विगत की घटनाएं स्मरण में कौंध रही हैं··लहरों से उठती ध्वनियां लगता है उन घटनाओं के सत्यासत्य का विश्लेषण करती हुई तर्क बन गई हैं···

इन तर्कों की गति, शक्ति और लय का सामना करना असंभव ! उससे भी कहीं अधिक असंभव है—कायर भाव से इन लहरों को चीरते हुए पार हो जाना ! विचारनद की इन लहरों में स्नान करना होगा कर्ण को ! तभी स्वच्छ-पवित्र हो सकेंगे !

सूर्योदय होने को है···कुछ पलों बाद जब भास्कर अपनी सम्पूर्ण आभा पृथ्वी पर उंडेलते हुए प्रकट होंगे, तब कर्ण नमन् में पलकें मूंदकर उनके प्रकाश-सत्य में अपने विगत का हर अंधकार धो लेने की चेष्टा करेंगे···

उससे पूर्व अन्धकारों से भरे विगत की अनेक घटनाएं···

अभिमन्यु याद हो आया है···

कर्ण को लगा जैसे उनके अपने भीतर लहरों का एक अनन्त सिलसिला पैदा हो गया ! अभिमन्यु—उनका अपना भ्रातृ-पुत्र ! उनका अपना ही कुल-अंश !

न चाहते हुए भी अवश भाव से आंखें छलछला आईं…कठिनाई से स्वयं को रोक पा रहे थे…तरह-तरह से किसी बार सांत्वना देते हुए किसी बार अपने-आपको अपने ही अस्तित्व का बोध कराते हुए…

बहुत थाम रहे हैं स्वयं को…

"यह कैसे छलछला उठे हो वैकर्तन ! युद्ध में जीवन-मृत्यु का विचार नहीं होता, विचार होता है केवल जय-पराजय का ! अभिमन्यु के प्रति तुमने जो षड्यंत्र किया, यह अनीति नहीं—युद्धनीति ही था !"

और अपने लिए ही धिक्कार—

"नहीं ! वह अनीति मात्र था ! केवल षड्यंत्र ! यह तो ऐसे ही हुआ जैसे मैंने अपने ही हृदय का एक टुकड़ा काट लिया हो ?"

"छिः ! किस तरह भावुक होकर सोचने लगे हो महावीर ? अभिमन्यु हत न होता तो तुम्हारे उस मित्र-धर्म का क्या होता जो तुम्हें दुर्योधन के प्रति निबाहना है ? उसका संहार करना उचित था !"

"निस्सन्देह युद्ध में प्रतिपक्षी का संहार करना उचित है, किन्तु क्या महारथी एक बालक को छल से मारकर वीरता या पराक्रम की घोषणा कर सकते हैं ? फिर अभिमन्यु की मृत्यु का रहस्य, द्रोणाचार्य से पूछते समय तुम यह कैसे भूल गये थे कर्ण कि वह अर्जुन का बेटा है ! अर्जुन से तुम्हारा वैमनस्य भले रहा हो—उसके बालकों के प्रति वैमनस्य क्यों हुआ ? अभिमन्यु तो तुम्हारा अपना… !"

भूल जाना चाहते हैं। बड़बड़ाये हैं—"नहीं-नहीं ! वह सब मुझे स्मरण मत दिलाओ। सूर्योदय के साथ ही प्रणाम-पूजा के उपरान्त महान् कुरु सेना का नायकत्व संभालना है मुझे ! इस तरह, इस पल भावनावेग में कमजोर मत करो मुझे ! वह सब याद नहीं करना चाहता हूं मैं !"

पर यादों को कौन काबू कर पाया है ?

इतना ही काबू करने की शक्ति होती तो उन विष-घूंटों को ही न पचा लिया होता, जिन्होंने कर्ण के समूचे श्रेठत्व का नाश कर दिया ! उसे इतिहास का दोष बना छोड़ा ?

इसलिए यादों को नहीं रोक सकेंगे ! अभिमन्यु…

एक सुकुमार छवि…पराक्रम और वीरता का अभूतपूर्व अध्याय !

बालक, पर वीरों के लिए कालवत् !

हां, उस पल काल ही हो चुका था वह…कर्ण की दृष्टि धुंधलके में जल पर है। जल पर संभवतः अभिमन्यु का मुसकराता, भोला चेहरा… निर्दोष आंखें…

वे सात थे—वह अकेला !

वे सब महारथी थे—वह बालक !

वे सब बुरी तरह खीझ रहे थे और वह अद्भुत फुर्ती के साथ कुरु-सेना को कुचलता-मसलता हुआ।

वे बौखलाने लगे थे। किसी बार अकुलाकर यहां-वहां निशाने लगाते, किसी बार अभिमन्यु का अभूतपूर्व रण-कौशल दर्शक की भांति मोहित भाव से देखते रह जाते !

यही कुछ कितने ही घन्टों से चल रहा था। जहां-तहां कौरव सेना, उसका व्यूह, व्यूह-रचना के मुहाने बिखरने लगे थे ! वे सब चिन्तित नहीं हुए थे, अपितु लगता था कि परास्त होने लगे हैं !

कर्ण ! शल्य, द्रोण, अश्वत्थामा, कृतवर्मा, बृहद्वल और कृपाचार्य ! उन सबके बीच अभिमन्यु ! ऐसे जैसे गरजती घटाओं के भेड़ों जैसे समूह को रह-रहकर अकुलाता हुआ विद्युत-वेग-सा वीर अभिमन्यु !

कौरव-सेना में भगदड़ मच गई थी। चीत्कार और कोलाहल ! 'बचाओ-बचाओ' की चारों ओर बिखरी ध्वनियां…

घबराये हुए कर्ण ने जगह-जगह से लहू में सन चुके कौरव-योद्धाओं को देखा। वह स्वयं भी कम घायल नहीं थे। कृपाचार्य ने कहा था—"मृत्युंजय ! यदि अर्जुन के इस दुर्घर्ष योद्धा पुत्र का संहार न हो सका तो जय-पराजय का निर्णय आज ही होता लगता है ! अपने बिखराव को

संभालो ! सम्पूर्ण शक्ति के साथ दुर्जय अभिमन्यु पर प्रहार करो !"

"हां ! प्रहार करो ! मारो उसे ?" शल्य चीखे !

द्रोणाचार्य ने बड़बड़ाकर कहा—"अद्भुत ! मैं इसमें और अर्जुन में अन्तर नहीं कर पा रहा हूं, वीरों ! इसके संहार के लिए वैसी ही शक्ति आवश्यक है, जैसी अर्जुन के लिए चाहिए ! आगे बढ़ो !"

"बढ़ो !" गहद्वल ने घन-गर्जना की।

"दुर्दांत पराक्रमी है ये बालक ! इसका संहार अनिवार्य !" एक ओर से रथ को हांकते हुए कोई सारथी चिल्लाया । यह रथ था—अश्वत्थामा का !

उन सातों के बीच था अभिमन्यु !

सात तीव्र दृष्टियां ! सबका संधान अभिमन्यु पर ! और अभिमन्यु वायुचक्र की तरह घूमता हुआ उन सातों के हर बाण, हर शक्ति का प्रत्युत्तर ! प्रलयंकारी प्रत्युत्तर ?

समझ लिया था सातों ने—असंभव तो नहीं, किन्तु दुष्कर है अभिमन्यु संहार ! तभी कर्ण, का रथ आचार्य द्रोण के पास आ पहुंचा था। कर्ण ने पूछा था—"आचार्य ! यह असम्भव है कि अभिमन्यु को परास्त करने का कोई रहस्य न हो ! आप वीरों में श्रेष्ठ हैं, बतलाइए तो किस तरह इसे मारा जा सकता है ?"

कर्ण ! उसका कवच देखते हो—अभेद्य और सुदृढ़ है। इस कवच के रहने अभिमन्यु का संहार करना असम्भव है। एकमात्र तरीका है कि किसी तरह अभिमन्यु के धनुष की डोरी काट दो ! और तुम वह सफलता के साथ कर सकते हो वृष ! जब तक वह धनुष नहीं कटेगा, तब तक अभिमन्यु इसी तरह हम सबको पीड़ित करता रहेगा !

और कर्ण को अब भी याद है·· दृष्टि, सुनने के साथ ही अभिमन्यु के धनुष पर केन्द्रित हो गई थी···क्रोध और चिढ़ ने जैसे पराक्रमी कर्ण की सारी संवेदना को नष्ट कर दिया था। उस क्षण उनके लिए अभिमन्यु का संहार कर देने की राह निकालने के अतिरिक्त, सोचना-समझना ही बन्द हो चुका था।

द्रोण अन्य निर्देश दिये जा रहे थे····"धनुष की डोरी के साथ-साथ

उसके रथ का नाश करना अनिवार्य ! घोड़ों को हत करो, सारथी को मारो ! इस सबके बाद अभिमन्यु लगभग निःशस्त्र हो रहेगा, तब सुविधा से उसे हत कर सकोगे !"

और अगले ही क्षण महाप्रतापी कर्ण ने धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा ली थी। तीखे, नोकीले, चौड़े फल वाले वाण उस पर चढ़े थे और वायुगति से चले ! वह दृश्य इस समय भी कर्ण की स्मृति में है···अभिमन्यु के अन्त का दुखदाई दृश्य ! अपने ही हृद्-खण्ड का टूटकर गिरना !

कर्ण ने व्यग्रता के साथ पलकों को सहलाया है। कुछ बूंदे अंगुलियों पर उतर आई हैं···ये बूंदें हैं या अभिमन्यु का रक्त ? कर्ण स्पर्श भर से सिहर गये हैं···

जिस क्षण कर्ण के चौड़े फल वाले बाण बढ़े, वीर अभिमन्यु ने प्रत्यंचा चढ़ा रखी थी। उस पर बाण···छोड़ सकें, इसके पूर्व ही वायुगति से कर्ण के बाण ने धनुष की डोरी को काट दिया।

किशोर योद्धा विस्मित-सा खड़ा ही रह गया था। हाथ में टूटा धनुष, जिस बाण को चढ़ाया था, वह तृण की भांति निर्जीव होकर उसके अपने ही रथ में गिर गया।

कर्ण को इस पल भी याद है अभिमन्यु की वह दृष्टि—अकुलाई, सहमी हुई मासूम दृष्टि···लगता है कि वह दृष्टि इस पल बोलने लगी है—कर्ण से—"पितृ ?"

"हे भगवान् !" कर्ण को लगा कि वह बड़बड़ाये नहीं हैं, चीख पड़े हैं। दृष्टिपथ पर वह रक्तरंजित दृश्य इस तरह आता जा रहा है जैसे उस सबको दोबारा भोगने लगे हैं कर्ण—पात्रवत् !

उस पल मुसकराए थे कर्ण ! वह धनुषहीन हो चुका था। आश्चर्य

और बेबसी की मिली-जुली प्रतिक्रिया में पीड़ित दृष्टि लिए···

किन्तु इस पल दृश्य बदला हुआ है। कर्ण की संवेदना से जुड़ गया है दृश्य। अब वह अभिमन्यु की यह स्थिति देखकर हंस नहीं पा रहे हैं— खंड-खंड होकर टूटने से लगे हैं। लग रहा है कि उनके अपने सीने से हृदय का एक जीवंत हिस्सा टूटकर लटका हुआ उन्हीं से प्रश्न कर रहा है— मौन प्रश्न —"पितृ ! मैं तो तुम्हारा ही था ? अर्जुन केवल मेरे जन्मदाता, किन्तु तुम्हारे रक्त सम्बन्ध में मुझमें और वृषसेन में क्या अन्तर था पूज्य ?"

ओह ! कर्ण ने पलकें जोर से भीचीं। आंसू झर गए···आंसू या अभिमन्यु की रक्त-बूंदे ? कितनी ? याद नहीं। इतना याद है कि दृष्टि भींचते ही सहसा अभिमन्यु और उनके अपने पुत्र वृषसेन का चेहरा गड्-मड् हो गया है। एकमात्र वृषसेन का ही क्यों, लगता है कि कर्ण के अपने सभी बच्चों के चेहरे कभी अभिमन्यु बन जाते हैं, कभी उनके चेहरे···किसी बार प्रसेन, किसी बार वृषसेन और किसी बार अभिमन्यु !

व्यग्र भाव से रह-रह कर थूक के घूंट निगलने लगे हैं। जी होता है कि चीख-चीख कर कह उठे—"घोर अनर्थ हुआ मुझसे ! सचमुच विष के घूंट मैं पचा नहीं सका। विष उगल उठा। कुन्ती द्वारा किए गए-उचित-अनुचित ने मुझसे क्या-क्या करवा दिया ?"

दृश्य अब भी आंखों से ओझल नहीं है।

डोरी कटे धनुष को फेंक दिया था अभिमन्यु ने। विद्युत गति से तुरन्त ढाल तलवार सम्भाली थी। इस बीच कृपाचार्य उसके पार्श्वरक्षक सारथियों का संहार कर चुके थे। भोज ने घोड़ों को मारकर रथ को धरती पर गिरा दिया था। अभिमन्यु वायुगति से उछलकर धरती पर आ गया और वे सब रथों पर चढ़े हुए ! क्रूर, दानवी भाव से बालक पर शस्त्र-संधान करते हुए।

कर्ण स्वयं भी तो कितनी तीव्रगति से बाण-वर्षा करने लगे थे ? कुछ पलों के भीतर ही अभिमन्यु की सुन्दर, सुगठित देह सातों महारथियों के बाणों ने जगह-जगह से छेद डाली···;यहां तक कि कई बाण शरीर में इतने गहरे लगे कि झूलते से रह गए ! समूचा शरीर खून से इस तरह सना

हुआ कि उसका कोई हिस्सा रक्तहीन है—खोज देख पाना कठिन !

रथ, सारथी, धनुष यहां तक कि कुछ देर में अभिमन्यु ने उन महारथियों के घातक संहारों के कारण अपनी ढाल और खंग भी खो दी थी।

और तभी विचित्र दृश्य देखा था कर्ण ने ! अकेले कर्ण ने ही क्यों, उन सभी ने। बालक अभिमन्यु का रक्तरंजित शरीर उसी गति से मुड़ा था··· उसने धरती पर पड़ा हुआ एक विशाल रथ-चक्र उठा लिया था और उस रथचक्र को घुमाता हुआ वह आंधी की तरह कौरव महारथियों और सेना पर टूट पड़ा था। एक बार पुनः भगदड़ मच गई थी रणक्षेत्र में !

अविश्वसनीय पराक्रम देखा था कर्ण ने, उस रथचक्र से ही कितनों को कुचला होगा, कितनों का संहार किया होगा—गिनती नहीं ! बाणविध्य उसके शरीर की गति धीमे-धीमे कम हो रही थी·· सहसा उसे जोरों से चक्कर आ गया था।

वह मूर्छित हुआ।

कभी कर्ण संभल सकें या शान्ति का एक श्वांस ले सकें, इसके पूर्व ही दुःशासन-पुत्र पागलों की तरह चीखता-चिंघाड़ता हुआ गदा लेकर धरती पर मूर्छित पड़े अभिमन्यु की ओर लपका ! फिर कुछ पलों के बाद ही उसने बेसुध अभिमन्यु के मस्तक को गदा के प्रहारों से चूर-चूर कर डाला।

दृश्यानुभव के किस क्षण कुशासन पर स्थिर भाव से बैठे कर्ण शक्तिहीन वृद्ध की तरह दोनों हथेलियां धरती पर टिकाए हांफने लगे थे— ज्ञात नहीं। लग रहा था कि आत्मयुद्ध की इस बेला में अभिमन्यु के प्रश्न बरस रहे हैं उन पर ·· एक के बाद एक प्रश्न···

नदी के इस पार, उस पार, इस छोर, उस छोर से कोमल स्नेहभरी आवाज में पीड़ा से थके-हारे शब्द बन्धे हुए···ये शब्द अभिमन्यु के हैं···वे

बोले भले न हों, अभिमन्यु, किन्तु कर्ण के अपने भीतर से सुने जा रहे हैं···

"पूज्य ! आपने उस पल दुशासन के बेटे को क्यों नहीं रोका, जिस पल मैं मूर्छित धरती पर पड़ा था ? आप तो धर्म की बात करते रहे हैं यदा-कदा ? दानवीर और महात्मा भी तो कहा जाता रहा है आपको ? तब उस अधर्म पूर्वक हुए युद्ध को क्यों नहीं थामा आपने ?"

होंठ भिचे हुए। गला सूखता हुआ। इसी तरह सूखता रहेगा। इसी तरह उत्तर में कर्ण के होंठ भिचे रहेंगे।

उत्तर नहीं होगा !

कैसे हो सकता है ? जिसने विष के घूंट शिवशक्ति होते हुए भी क्षुद्र व्यक्ति की तरह न पचाये हों, ज्ञान होते हुए भी जिसने अज्ञान में शान्ति पाई हो, धर्म जानते हुए भी जिसने सदा अधर्म का पक्ष लिया हो—वह भला किसी को क्या उत्तर दे सकता है ?

कितने ही प्रश्नों, पात्रों, घटनाओं का कोई उत्तर नहीं है महावीर कर्ण के पास !

किन्तु आज उत्तर देना होगा। अपराध स्वीकार कर ! या अपराध को अस्वीकार कर !

सदा जिसे नकारते रहे, आज नकार नहीं पाएंगे। बोल पड़े थे···
"हां ! अभिमन्यु ! मैं तुम्हारा दोषी हूं ! तुम्हारा अपराधी !"

दिशाएं हंस पड़ी हैं—लहरों की तरह खिलखिलाती हुईं। व्यंग से एक आवाज उठ रही है—"कर्ण अब भी कूटनीति को नहीं छोड़ा तुमने ! आज भी वाक्जाल का खेल खेलने बैठे हो ? अपने आप से वाक्जाल !"

"क्यों ?" चकित होकर प्रश्न करते हैं स्वयं से।

"वाक्जाल नहीं है यह ? तुम क्या केवल अभिमन्यु भर के अपराधी हो ? तुम तो उस सारी संवेदना के अपराधी हो, जिसके नाम पर बार-बार तर्क देते हुए हर नीति को अनीति बतलाते रहे ! हर अनीति के पक्ष में सिर्फ विष उगलते रहे ?"

कर्ण निरुत्तर !

कुन्ती ने तुम्हारे साथ संवेदनात्मक अपराध किया था···तुम कहते

हो। सदा यही मानते भी आए हो। सदा यही कहते आये हो। तुम्हारा सबसे शक्तिशाली तर्क रहा है वह। संवेदना को प्रदर्शन करते हुए ही तुम उस पल सबसे भावुक आदमी बन गये थे, जिस पल यदुश्रेष्ठ श्री कृष्ण ने तुम्हें धर्म-पक्ष का साथ देने की प्रेरणा दी थी··· बड़ी कोमल आवाज में बोले थे —"नहीं नहीं, उस सहज घटना को मेरे विरुद्ध तर्क मत बनाओ ! योगात्मा कृष्ण के प्रति मैं सदा ही श्रद्धा करता आया हूं, उनके ज्ञान, नीति और क्षमता के प्रति सदा ही श्रद्धालु रहा हूं···उन्हें ईश्वरांश मानकर सम्मान किया है मैंने ! कृपाकर, उनसे हुई वार्ता को मेरे किसी दोष का प्रमाण मत बनाओ !

"किन्तु···?" मन सोचना चाहता है···सोचकर तर्क रूप में कर्ण को धमकाना भी चाहता है, किन्तु लगता है शायद वासुदेव और कर्ण की वह सरल वार्ता ही कर्ण का सत्य है ! उसे कर्ण के विरुद्ध उपयोग करना असंभव !"

कर्ण बड़बड़ाये जा रहे हैं···"यह असत्य है कि मैंने धर्मा-धर्म का विवेचन नहीं किया ! यह भी असत्य है कि मैं पांडवों के प्रति सदा ही विषभाव से सोचता, कर्म करता रहा ? कितनी बार मैं उनके प्रति भावुक नहीं हुआ था ? कितनी बार यह सोचकर सुखी नहीं हो लेता था कि वीर पांडवों का बड़ा भाई हूं ?"

कुछ क्षणों के लिए उद्वेलित मन शान्त हुआ है।

कर्ण ने राहत पाई है।

कितना थकने लगे हैं इस आत्मयुद्ध में ? इतनी थकान के बाद भला क्या युद्ध कर सकेंगे ?···कैसे लड़ेंगे ? और कैसे दिलायेंगे अपने मित्र दुर्योधन को कुरुक्षेत्र के महायुद्ध में विजय श्री !

धुंधलका अब क्रमशः प्रकाश-पथ बनता जा रहा है—कर्ण ने कुशासन छोड़ा। उठ खड़े हुए···सम्पूर्ण एकाग्रता से सूर्याराधन के लिए तैयार हुए।

गंगा की लहरें अब ज्योतिधाराओं से जुड़ने को हैं···कुछ ही पलों में सूर्यदेव प्रकट होंगे और लहरों का मिलना आरंभ हो जाएगा।

कर्ण पवित्र गंगा के जल में उतर गए···कुछ डुबकियां मारीं। लगा

कि मन-शरीर की तपन सहसा शीतल जल ने सोख ली है। गहरी शान्ति अनुभव हुई। शरीर के पोर-पोर में समाई हुई थकान बहती धाराओं के साथ बहने लगी है…कर्ण से परे—दूर और दूर होती हुई।

सूर्य प्रकट हुए। कर्ण ने आराध्य के लिए जल में खड़े होकर अंजुलि भरी …"ओम् सूर्याय नमः !"

वर्तमान और गतागत आराध्य शक्ति की अद्भुत एकाग्रता में सूर्य-पुत्र कर्ण इस तरह गुमा देते हैं जैसे उनके और जीवन सत्य के बीच कोई सम्बन्ध ही न हो ! इस तरह एकात्म हो पाना उन जैसे आराधक के लिए ही संभव !

सूर्य का बढ़ता प्रकाश आशीर्वादों की एक श्रृंखला की तरह कर्ण के मन-शरीर पर बरसा। कर्ण एक नयी जीवन-शक्ति, नयी स्फूर्ति और नये यथार्थ से जुड़ गए !

बढ़ता ताप और उस ताप में गर्माती देह प्रतिपल उन्हें असामान्य बनाती गई। कर्ण अब आत्मसंघर्ष के रणस्थल में नहीं, कुरुक्षेत्र के रणस्थल में हैं ! आराधना के बाद उठे और युद्ध-शिविर की ओर बढ़ चले !

सेनापतित्व का पहला दिन आरंभ होगा आज !

शिविर में प्रतीक्षा की जा रही थी…शल्य रथ लिए तैयार खड़े थे। अर्जुन के सारथी का उत्तर शल्य ही हो सकते हैं। अतः शल्य उनका रथ हांकें, इसके लिए सेनापतित्व संभालने के पूर्व कर्ण आश्वासन ले चुके थे दुर्योधन से।

शिविर में प्रवेश किया। सेवक युद्ध की वेशभूषा पहनाने, श्रृंगार करने के लिए तत्पर खड़े थे।

कर्ण एक ओर शिलावत् खड़े हो रहे। सेवक दौड़-दौड़कर और

सावधानी से उन्हें रणसज्जा से सज्जित करने लगे !

थोड़ी ही देर में वीरवर कर्ण शिविर से बाहर रथ की ओर आए। देखा कि दुर्योधन बड़ी आशाभरी निगाहों से टकटकी बांधे हुए उन्हें देख रहे हैं। एक ओर मद्रपति शल्य ! समझ नहीं सके थे कर्ण—शल्य मुसकरा रहे हैं या होठों के गिर्द व्यंग्य की आहत करने वाली हंसी है ?

उतना देखने-सोचने का अवसर भी नहीं था। कर्ण एकाग्र भाव से युद्ध के प्रति मन-शरीर से समर्पित हो चुके थे···

लगता था कि रह-रहकर हाथ से छूटे अनाज के दानों की तरह मन कई-कई विगत-घटनाओं में बिखरकर मस्तिष्क की पकड़ से छूट-छूट जाता है ! कठिनाई से उसे संभाल पा रहे है···

रथ पर चरण रखा। विशाल कौरव सेना ने हर्षध्वनि की !

"प्रतापी अंगराज कर्ण की जय !"

फिर जय-जयकार गूंजती चली गई !

सहसा प्रकृति बिफर उठी···इस तरह जैसे कर्ण के सेनानायकत्व ने महाविनाश का पहला चरण रखा हो···

कर्ण रथ पर आरूढ़ नहीं हुए थे उस समय तक। केवल एक चरण रथ की ओर बढ़ाया था···

भयावह आंधी ने अपनी विकराल शक्ति से रथ को हचमचा दिया ! कर्ण ने चकित होकर आकाश की ओर दृष्टि उठाई ! सूर्य तीव्र आभा से अग्नि बरसाते से जान पड़े···उस आभा से अकुलाई हुई वायु ने जैसे उनका निषेध किया था···आंधी बनकर !

इस आंधी-गरमी और सहसा उमड़ आई घटाओं के कारण समूची प्रकृति ही उलट-पुलट होती-सी लगी···कर्ण ही नहीं, शल्य, दुर्योधन, दुःशासन, अश्वत्थामा आदि स्तब्ध होकर यह प्राकृतिक उत्पात देखते रह गए !

कर्ण ने पलकें मूंदी—सूर्य स्मरण किया ! लगा कि सूर्य अन्धेरा उंडेलती घटाओं और भयावह वायु के झोंकों से जूझने का प्रयत्न कर रहे हैं···उनके जूझने के इस प्रयत्न ने घटाओं से टकराकर कितनी विद्युत पैदा की···समझ पाना असंभव ! बस, इतना ही देख पाए थे कर्ण कि

घोर गर्जन करते बादलों के बीच सूर्य अग्नि बरसाते हुए ! यह अग्नि किसी-किसी बार उल्का की तरह पृथ्वी पर छूटती, उसे निगलने को आतुर झपटती दीखती···।

यह सब शुभ हो रहा है या अशुभ-संकेत है। सोचने-समझने का न तो किसी के पास समय था, न अवसर !

कर्ण ने वायुगति से रथ पर दूसरा चरण रखा···शल्य ने घोड़ों की रास संभाली, कौरव-सेना ने एक बार पुन: सेनापति की विजय का उद्घोष किया, जय-जयकार की स्वरमालाएं आकाश की ओर उछालीं !

हर्षित होकर गान्धारी सुत दुर्योधन ने कर्ण की वीरोचित स्तुति की। उनकी दृष्टि विश्वास से भरी हुई थी, स्वर निश्चय के सुख से नहाया हुआ। बोले थे—'नरश्रेष्ठ ! आज मैं तुम्हें अपनी सेना का दायित्व सौंपकर धन्य हुआ ! मुझे पूरा विश्वास है कि तुम मेरे शत्रु-बन्धुओं का संहार करोगे ! अर्जुन सहित पांचों भाइयों के काल बनोगे तुम ! वह महाकार्य जो पितृ भीष्म और गुरुवर द्रोणाचार्य पूरा नहीं कर सके—उसे तुम पूर्ण करोगे !"

नये सेनापति के कार्यभार ग्रहण के साथ ही तुरही नगाड़ों की ध्वनि आकाश गुंजाने लगी थी···दुर्योधन के शब्द सुनकर कर्ण शांत, गंभीर स्वर में बोले थे—"आश्वस्त हो मित्र ! मैं अवश्य ही युद्ध में विजयश्री पाकर तुम्हें इस महान् राज्याधिकार का सुख दिलाऊंगा ! तुम्हारे शत्रु पांडवों को समाप्त करूंगा···मैं ऐसा कालवत् उन पर टूट पड़ूंगा···' आगे भी कुछ कहना चाहते थे, किन्तु लगा था कि मन फिर से दानों की तरह ढुलकने लगा है·· टोकता हुआ—"यह···यह सब क्या कह रहे हो कर्ण ? क्या तुम भूल गए हो कि तुम वचनबद्ध हो ? पांडव जीवित रहने हैं ! तुम्हें तो केवल अर्जुन का संहार करना होगा ! या अर्जुन के हाथों तुम वीरगति प्राप्त करोगे ! पर कुन्ती के पांच पुत्र अवश्य जीवित रहेंगे ! तुमने वचन दिया है माता को !"

कर्ण ने होंठ भींच लिए थे। बेबसी और बेचैनी से। पछतावा हुआ था कि कैसे वचनबद्ध हो गए ! ज्ञानी कर्ण ने भावुकता में वह कैसा वचनदान दे दिया माता को ?

कर्ण ने मित्रघात किया ! दुर्योधन की दृष्टि आशा की चमक लिए अब भी उनके चेहरे पर थी…

और कर्ण नजर चुरा गए थे। हां, नजर ही चुराई थी उन्होंने ? वह उस दृष्टि का सामना नहीं कर सकते थे ! दुर्योधन कुछ कहें, इसके पूर्व ही विषय बदल दिया था उन्होंने। शल्य से बोले थे—"महाबाहु मद्रराज ! मेरे रथ को तुरंत उस दिशा में ले चलो, जिस दिशा में अर्जुन हों ! आज मैं गांडीवधारी को बतलाऊंगा कि धुनर्विद्या क्या होती है और क्या होता है पराक्रम ? चलो ! देर मत करो शल्य !"

शल्य हंसे। बड़बड़ाकर कहा—"सूतपुत्र ! अहंकार में कहीं तुम असंभव को संभव करने का स्वप्न तो नहीं देख रहे हो ? अर्जुन तुम्हारी तुलना में कहीं पराक्रमी हैं ! कहीं अधिक वीर !"

कर्ण ने चौंककर शल्य को देखा था। ऐसे जैसे कहा हो—"दुर्मति साथी ! यह क्या कह रहे हो तुम ? क्या तुम मुझे मानसिक दृष्टि से अपमानित करना चाहते हो ? क्या तुम मेरे कौशल को कंपाना चाहते हो ?…" पर बोले नहीं—चुप रहना ही उचित समझा था ! एक पल के लिए मन में संशय आया था कि कहीं शल्य का चुनाव करके किसी षड्यंत्र में तो नहीं फंस गए हैं ? पर अब समय शेष नहीं ! सारथी के परिवर्तन का विचार तो दरकिनार उस पर विचार के लिए भी समय शेष नहीं !

सब कुछ भूला ! समूची आत्मशक्ति बटोरकर तुरंत भुला दिया ! कर्ण को यह सब भुलाना ही होगा ! यहां तक भुला देना होगा कि वह कर्ण हैं—उन्हें इस क्षण केवल याद रखना होगा युद्ध-धर्म ! उस विश्वास के सहारे सब कुछ याद रखना होगा जो दुर्योधन ने उन पर किया है !

रथ शल्य ने हांका ही था कि कर्ण की दृष्टि दूर-दूरंत घूमने लगी थी…बोलती हुई दृष्टि…चीखती हुई…खोजी दृष्टि !

अर्जुन ! कहां हैं अर्जुन ? कर्ण को अर्जुन ही चाहिए ! केवल अर्जुन ! उनके जबड़े कस गए। माथा तमतमा उठा…दृष्टि के सामने अर्जुन की छवि गहरी और गहरी होती गई !

असल में अर्जुन को नहीं खोज रहे हैं कर्ण ! कर्ण खोज रहे हैं—

अपने प्रतिशोध को ! खोजी है वह घृणाभाव, जो उस दिन रंगस्थल में कर्ण को धिक्कार कर, उसके वीरत्व का अपमान करके अर्जुन ने पैदा किया था !

दंभी वीर अर्जुन !

किन्तु यह भी तो हो सकता है की दंभी हों—कर्ण ? मन पूछने लगा है। यदि अर्जुन ने कर्ण की वीरता को धिक्कारा था तो कर्ण यह कैसे भूल जाते हैं कि कर्ण ने सदा ही अर्जुन को लेकर एक प्रतिस्पर्धा···और बहुत हद तक वैमनस्य का भाव मन में रखा ! केवल बैर !

यदि अर्जुन को दंभी मान रहे हैं वह, तब वह स्वयं भी कम दंभी नहीं हैं ! बल्कि उनका दंभ अर्जुन के अहंकार से कहीं घिनौना है ! वह षड्यंत्र प्रिय रहा है, छल में घुलामिला और उससे कहीं आगे केवल बैर-भाव के विष में डूबा हुआ !

प्रकृति पूर्ववत् नाटकीय परिवर्तनों से भरी हुई ! ऐसा तो कभी नहीं होता था ? कर्ण ने रथ पर दौड़ते हुए सोचा··इस तरह की प्राकृतिक उथल-पुथल उन्होंने कभी नहीं देखी ! लगता है जैसे सूर्य और इन्द्र परस्पर युद्धरत हो गए हैं ! सृष्टि अकुलाई हुई—आक्रांत ! भयभीत हिरनी-जैसी ! प्राणियों के मन मृत्युभय के थपेड़े झेलते हुए।

बहुविधि प्रतिक्रियाओं से एकसाथ गुजर रहे हैं कर्ण···कभी प्रकृति ध्यान खींचती है, कभी अर्जुन का स्मरण हो आता हैं ! युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव···सभी उनकी आंखों के सामने आए हैं, पिछड़ गए हैं ! उन पर दृष्टि किसी बार नहीं टिकती !

या कि उन पर दृष्टि टिकाने के लिए मन तैयार ही नहीं। तय जो कर रखा हैं ! वे चारों कर्ण के लिए अबध्य !

लक्ष्य हैं केवल अर्जुन !

मन होता है, जोर से चीखें—'कहां हो तुम अर्जुन ! सामने आओ! पर नहीं—अभी युद्धारंभ नहीं हुआ है। अभी केवल रण-क्षेत्र में पहुं रहे हैं···कुछ पलों के बाद रथ दूर-दूरंत फैली कौरव-सेना के बीचोबी जा पहुंचा था ! शल्य ने रथ थामा। कर्ण ने शंख संभाला···फिर ती घनभेदी हुंकार करता हुआ शंख बजने लगा !

युद्धारंभ !

सूर्य तीव्र और तीव्र होते हुए ! लग रहा था कि आकाश से अग्नि बरस रही है। कुछ पल पहले सूर्य की तपन में अवरोध बनकर आए बाद थककर कहीं आकाश में ही लुप्त हो गए थे।

सूर्य अपनी प्रखर शक्ति से उभरे···और उतनी ही प्रखरता से क का तेज उभरा ! जिस ओर कर्ण बढ़ते, काई की तरह पांडव सेना भा खड़ी होती··· फटकर-बिखर जाती।

राह में जो पड़ता, वह कर्ण के विकराल प्रहारों से चकनाचूर ह जाता ! किसी बाण में कर्ण को छूने की शक्ति नहीं, कोई दृष्टि कर्ण विरोध में संधान तो दूर, देखने के लिए भी तैयार नहीं ! चीखों, कराह से भरी पांडवसेना का जो संहार कर्ण कर रहे थे, उसके कारण कौरव सेना बहुत आगे बढ़ चुकी थी। पांडव भागते हुए···पर अर्जुन लुप्त !

कहां हैं अर्जुन ?

अर्जुन !···अर्जुन ! कर्ण की दृष्टि ज्योति किरणों की शक्ति जैस सब ओर खोजती···हर कोना, हर रथ टटोलती हुई···किन्तु अर्जुन क नहीं ! चिढ़ और क्रोध के कारण बुरी तरह झुंझलाए हुए थे कर्ण। कितन ही बार मन-ही-मन अर्जुन को कोसने लगते—"दुष्ट ! छली ! काय

गांडीवधारी ! झूठा है तेरा वीरत्व ! यदि तू सचमुच ही असामान्य योद्धा है, तब मुंह चुराये कहां छुपा हुआ है ! सामने आ ! सारे जीवन सूतपुत्र के धिक्कृत सम्बोधन से आहत होता रहा कर्ण तुझे पुकारता है ! आ !"

अवश्य ही अर्जुन के योग्य और चतुर सारथी कृष्ण ने उसे छिपा रखा होगा। कर्ण ने बौखलाकर सोचा था। मन हो आया था कि अर्जुन के साथ-साथ श्रीकृष्ण को भी धिक्कारने लगे—"तुम सदा ही नीति के नाम पर छल करते रहे हो द्वारिकाधीश ! यदि तुम श्वेतवाहन को न बचाओ तो वह तो कीड़े-मकोड़े की तरह कब का मेरे हाथों मारा जाए !"

शल्य ने कहा था—"मद्रराज ! शीघ्रता करो। अर्जुन को खोजो ! मुझे उसे हत करके मैं दुर्योधन की विजयश्री का मार्ग प्रशस्त करूंगा ! तुरन्त उसके सामने ले चलो, मुझे !"

"अरे नीच सूतपुत्र ! क्या युद्ध-भय से आक्रांत होकर तुम अपना सन्तुलन खो बैठे हो जो ऐसी असंभव बातें करते हो ? अर्जुन जैसे महा-धनुर्धर, अजेय और रण से कभी मुंह न चुरानेवाले योद्धा के सामने आने पर क्या तुम इसी तरह वाचालता करते रहोगे ? यह मत भूलो, कर्ण कि अर्जुन तुमसे कहीं अधिक योग्य है। वह तुमसे हजारगुना अधिक पराक्रमी और रण-कुशल योद्धा है। अच्छा यही होगा कि तुम उसके सामने न पड़ो। छुटपुट पांडव योद्धाओं को नष्ट करके ही अपनी ओछी सफलता को बनाए रखो !"

युद्धरत कर्ण ने ये अपशब्द सुने···क्रोध और आवेश से भर उठे। मन हुआ था कि लात मारकर शल्य को रथ से दूर गिरा दें, किन्तु युद्ध-समय में अपने ही साथी से वैमनस्य और द्रोह करना नहीं चाहते···यह रणनीति के विरुद्ध है—यही सोचकर विष की धारा जैसे निरन्तर बहनेवाले शल्य के उन शब्दों को सह गए थे। बोले थे—"मैं तुम्हारी उच्छृंखल बातों का उत्तर देकर अपनी जीभ खराब नहीं करना चाहता। इस समय तुम केवल इतना करो कि पांडवसेना के बीचोबीच मेरा रथ ले चलो !"

शल्य ने उत्तर नहीं दिया—रथ को तीव्रगति से पांडव-सेना के बीचों-बीच ला पहुंचाया।

पांडव सेना में भगदड़ मची।

कर्ण ने घनगर्जन करते स्वर से उन सभी को रोका—"भागो मत ! एक क्षण रुककर मेरी बात सुनो। मैं एक उद्घोषणा करता हूं। उसे सुन-जानकर और उसके योग्य कार्य करके तुममें से कोई सुखी होगा, सौभाग्य प्राप्त करेगा। इन क्षणों में मैं युद्ध नहीं करूंगा ! मेरी बात सुनो !"

भयभीय, थर्राए हुए अनेक योद्धा, सैनिक सहमे हुए थमे ! कर्ण यह सब क्या कर रहे हैं ? सोचते हुए शल्य ने आश्चर्य और अविश्वास से उनका चेहरा देखा।

कर्ण रथ पर खड़े हुए घोषणा करने लगे थे—सुनो ! तुम सब सुनो। मैं कौरव-पांडव सेना के सभी योद्धाओं से कहता हूं, ध्यान लगाकर सुनो।" एक पल थमे थे वह। कहा था—

"मैं अर्जुन को खोज रहा हूं। गांडीवधारी श्वेतवाहन कहां हैं—मुझे ज्ञात नहीं, पर मैं अर्जुन से युद्ध करना चाहता हूं। तुममें से जो कोई मुझे अर्जुन कहां है—बतलाएगा, वह पुरस्कृत होगा !"

इसके बाद पुरस्कार की घोषणा की थी कर्ण ने। बहुविधि पुरस्कार। उत्साह भरे स्वर में वह यहां तक बोल गए थे कि यदि कोई अर्जुन को दिखा देगा तो वह उसे अपनी स्त्री और पुत्रों के अतिरिक्त सारी धन-सम्पत्ति, राज्य आदि देने को तैयार हैं !

कहा था—"यही नहीं ! अर्जुन और कृष्ण को मारने के उपरांत मैं उनका धन भी उसे ही दूंगा !"

सन्नाटा ज्यों-का-त्यों रहा था। अन्तर मात्र इतना ही पड़ा कि कर्ण की इस घोषणा ने पांडव-पक्ष के मनोबल को काफी कुछ गिराया ! लगता था कि कर्ण आज पांडवों की मृत्यु बनकर महासमर में आ पहुंचे हैं !

युद्ध पुनः आरम्भ हुआ और कर्ण के भयावह प्रहारों ने एक बार पुनः पांडव-सेना को नष्ट करना प्रारम्भ किया।

प्रकृति उसी तरह रह-रहकर उत्पातों में व्यस्त थी। मेघ, वायु आदि सूर्य को निरन्तर आच्छादित करने का प्रयत्न कर रहे थे और सूर्य उनसे संघर्ष करते हुए अपनी ज्योति को पूर्ववत् पृथ्वी पर उंडेलते रहने के लिए प्रयत्नरत !

और प्रतिसूर्य प्रयत्नरत थे अर्जुन की खोज में !

शल्य निरन्तर दु:शब्द कहकर कर्ण को अपमानित करते, उनके मनोबल को गिराते हुए। दोपहर ढलते-ढलते कर्ण थकने से लगे···सूर्य की तीव्रता में भी स्वभावत: कमी आना प्रारम्भ हुई।

शल्य बोले थे—"इस तरह पागलों की तरह अर्जुन-अर्जुन करते क्यों चीख रहे हो सूतपुत्र ! मूर्खों की भांति तरह-तरह के पुरस्कारों की घोषणा करते हुए क्या तुम यह भूल गए हो कि वह पुरस्कार देने का अवसर तुम्हें कभी नहीं मिल सकेगा। चिन्तित मत हो, राधेय ! अभी, कुछ समय में ही अर्जुन तुम्हें दीख पड़ेंगे ! उस वीर के दीखते ही तुम्हारी सम्पूर्ण आभा लुप्त हो जाएगी और तुम त्राहिमाम् करते हुए रणक्षेत्र से भाग पड़ोगे।"

"शल्य !" कर्ण तड़पकर चिल्लाए—ऐसे-जैसे शल्य ने दुर्वचन नहीं कहे थे, कर्ण के बदन पर कोड़ों से प्रहार किया था···

पर शल्य पूर्ववत् उसी भाषा और उसी अपमान के साथ कर्ण की वीरता को चुनौती देते हुए, प्रतिक्षण अर्जुन को श्रेष्ठ बतलाते हुए···

"बुरा मत मानो, वैकर्तन ! जो सत्य है, उसे सत्य कहने के लिए मैं ही क्या, कोई भी बाध्य है। बतलाओ तो कब-कब तुमने अर्जुन का सामना किया है ? कब-कब तुम उसके सामने ठहर सके हो ? अनेक बार तुमने भागकर जीवन-रक्षा की है, अन्यथा अर्जुन कब का तुम्हारा संहार कर चुका होता। आज तुम उसी की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर ऐसी डींगें मार रहे हो। थोड़ी देर में जब वह आ जाएगा तब तुम उसी इतिहास की पुनरावृत्ति करोगे, जो तुम्हारा धर्म बना रहा है ! कायर भाव से पलायन···"

"चुप हो शल्य !" कर्ण का तेज धुंधलाने लगा था ! एक तो दोपहर का उतार, तिस पर आधे दिन तक हुई अर्जुन की खोज से जन्मा निराशा भाव और उस सब पर अपने ही सारथी और युद्ध-साथी शल्य से निरंतर अपमानित शब्दों का सुनना ! कर्ण तिलमिला उठे ! कितने ही शर-संधान गलत होने लगे, उत्तेजनावश अनेक बार क्रोध में कांपकर अपने ही रथ में लड़खड़ा गए।

शल्य फिर कुछ कहना चाहते थे कि उन्होंने सामने से युधिष्ठिर का

रथ आते देखा। युद्ध की इस बेला में भी युधिष्ठिर के चेहरे पर सदा की तरह शान्ति मौजूद थी···पर शरीर आश्चर्यजनक फुरती का प्रदर्शन करता हुआ ! कर्ण को सामने पाकर उन्होंने अपनी सेना को उत्साहित किया और सम्पूर्ण शक्ति से कर्ण और कौरव सेना पर प्रहार के आदेश दिए !

जैसे-तैसे अपने-आपको बटोरकर कर्ण युधिष्ठिर से संग्रामरत हुए। बहुविधि अस्त्रों का प्रदर्शन करते हुए धर्मराज अविचलित भाव से युद्ध कर रहे थे किन्तु कर्ण के भयावह आक्रमण को झेल पाना उनके लिए किसी भी क्षण संभव न हुआ ! युधिष्ठिर कर्ण के प्रहारों से निरस्त्र होकर रण-क्षेत्र से हटने को ही थे कि वायुगति से कर्ण ने उन्हें अपने रथ पर खड़े-खड़े ही कन्धे से पकड़ लिया ··युधिष्ठिर भयाक्रांत होकर कर्ण को देखने लगे।

कर्ण उत्तेजना और क्रोध में सब कुछ भूल चुके थे। दोनों ही योद्धाओं के शरीर से रक्त बह रहा था···

युधिष्ठिर कुछ बोल सकें इसके पूर्व ही सहसा कर्ण को लगा था कि मेघ-गर्जन ने उन्हें उस बेसुधी से झकझोर कर जगा दिया है···अपनी ही आवाज गूंज उठी थी—"यह क्या अनर्थ कर रहे हो राधापुत्र ? क्या तुम भूल गए—युधिष्ठिर अवध्य हैं ! तुम्हारे वचन के बाद वह सदा जीवित रहेंगे। कम-से-कम तुम्हारे हाथों हत नहीं होंगे।"

कर्ण बेबसी से मुसकराए—हाथ हटा लिया।

युधिष्ठिर ने गले का थूक निगला। सकपकाए से खड़े रह गए।

कर्ण ने कहा था—"जाओ कुन्तीसुत ! कहीं श्लोक पढ़ो, यज्ञ करो और ब्राह्मणों की तरह अपने स्वभावानुसार जीवन बिताओ ! यह रण-क्षेत्र क्षत्रियों का है, तुम जैसे तर्कशास्त्रियों का नहीं। जाओ, मैं सूतपुत्र

कर्ण तुम्हें जीवनदान देता हूं। मैं चाहूं तो इसी पल तुम्हारे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर सकता हूं, किन्तु मेरे लिए तुम अबध्य हो! आश्वस्त रहो—कर्ण तुम्हें युद्ध में कभी न मारेगा। मैं तुम्हें मुक्त करता हूं।"

बात समाप्त करके कर्ण ने सहसा ही धर्मराज युधिष्ठिर की ओर से मुंह इस तरह घुमा लिया था, जैसे उन्हें देखा ही न हो!"

और युधिष्ठिर घबराए हुए, संकोचग्रस्त युधिष्ठिर ने तुरन्त रथ मोड़ा, युद्धस्थल से भाग निकले।

युधिष्ठिर को इस तरह रणक्षेत्र से पलायन करते पाकर सात्यकि, नकुल और अन्य पांचालगण भी उनके पीछे-पीछे खिसके। स्पष्ट लग रहा था कि पांडव-सेना ने पल भर में ही अतिरथी कर्ण के सामने पराजय बोध कर लिया है।

शल्य चकित थे—कर्ण ने निहत्थे पाकर भी युधिष्ठिर को छोड़ दिया? संभवत: कर्ण के अन्तिम संवाद ने शल्य को ज्यादा ही चकित कर दिया था—"आश्वस्त रहो। कर्ण तुम्हें युद्ध में कभी न मारेगा।"

पर एक वही घटना तो नहीं थी···उसके बाद लगभग भीमसेन को मार ही डाला था कर्ण ने···पर ठीक समय प्रहार में उठे अपने हाथ को रोककर शल्य से कहा था—"मद्रराज! रथ मोड़िए। अर्जुन के सामने ले चलिए मुझे। तुरन्त!"

'किन्तु सूतपुत्र, तुम्हारे सामने वह दुर्घर्ष पांडव भीम खड़ा है···इस पल तुम उसे युद्ध में लगभग परास्त कर चुके हो! वह निःशस्त्र होकर तुम्हारे बाणों के कारण क्लांत हो चुका है। तुम उसका इसी क्षण संहार कर सकते हो। जबकि तुम कह रहे हो कि मैं रथ मोड़ लूं?"

कर्ण ने झल्लाकर आज्ञा दी थी—"जैसा कहता हूं, मद्रराज! तुम वही करो।"

"किन्तु···"

"शल्य! सारथी धर्म याद रखो। तुम्हें मेरे अनुसार युद्धक्षेत्र में रथ-संचालन करना है। मैं तुम्हारी सलाह से युद्ध करने नहीं आया हूं। चलो, मोड़ो रथ!"

शल्य के हाथों ने यांत्रिक ढंग से काम किया। रथ मुड़ गया। कुछ

पल के लिए शल्य बौखलाए हुए से रह गए थे। युधिष्ठिर और भीम··· पांडवों में दो भाइयों को कर्ण ने जानबूझकर जीवित छोड़ा था। स्पष्टतः जीवनदान ही दिया था उन्हें ! पर क्यों ?

शल्य थक गए थे—कारण कुछ भी समझ न आया !

मन कहता था—"कर्ण मूर्ख भी नहीं है। जितना बड़ा योद्धा है, उतना ही नीतिज्ञ और कुटिल भी···तब उसने ऐसा क्यों किया !"

कारण अवश्य होगा !

पर क्या होगा—शल्य की बुद्धि से बहुत परे। बहुत दूर।

कर्ण भी उस पूरे दिन यही कुछ सोचते रहे थे—युधिष्ठिर और फिर भीम। दोनों को जीवनदान दिया कर्ण ने !

एक क्षण के लिए अनुभव हुआ था, जैसे मित्रघात कर रहे हैं ! दुर्योधन के दोषी हुए जाते हैं। आत्मा धिक्कारती हुई महसूस हुई थी।

पर स्वयं को सहेजा। सतर्क हुए। नहीं ! संभवतः वचनरक्षा की थी।

पर ऐसा वचन ही क्यों किया कर्ण ने ? यह वचन देकर ही मित्रघात कर बैठे वह।

एक पल के लिए उत्तर नहीं आता कर्ण के अन्तर से। कैसे आएगा ? सत्य को सदा असत्य से झुठलाए रहे कर्ण अब इस अन्तिम क्षण पर आकर असत्य को सहेज नहीं पाते हैं। जब-जब मन की गुफाओं में हाथ डालते हैं, सूर्य की तरह तेजस्वी सत्य उनके हाथों में आता है···सत्य ही दीखता है !

और सत्य यह है कि कुन्ती को वचन देने के साथ ही कर्ण ने अपने मित्र के साथ विश्वासघात कर डाला। क्या जानते नहीं थे कर्ण कि युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव के जीवनदान की घोषणा का अर्थ है दुर्योधन की

पराजय।

अनजाने ही सही, किन्तु कुन्ती जो कुछ मांगने-चाहने आई थीं, वही कुछ कर्ण ने उनकी झोली में डाल दिया था।

संभवतः नहीं। सच केवल यह नहीं है। कर्ण को लगता है कि विधि का लिखा-बदा घटाने के लिए वे स्वयं बाध्य हुए हैं···कुन्ती का आना, वचन लेना, सब कुछ उसी विधि का बहाना हैं। सत्य है यह कि धर्म-जय होनी है।

इस धर्म-जय के लिए मार्ग में आया हर कंटक कहां, किस तरह टूटेगा, समाप्त होगा—कोई नहीं जानता। उस दिन कर्ण भी कहां जानते थे, जिस दिन अनजाने ही सही, किन्तु श्रीकृष्ण से यह सत्य कह गए थे कि अन्ततोगत्वा जय धर्म की ही होगी वासुदेव !

चकित रह गए थे कृष्ण ? इस तरह कर्ण का चेहरा देखते हुए, जैसे पूछ रही हों—"यह···यह तुम क्या कह रहे हो कर्ण ? तुम जो दुर्योधन की मनःशक्ति हो ? तुम—जिसकी बांहों के सहारे दुर्योधन यह युद्ध लड़ने जा रहा है ? विश्वास नहीं होता।"

और कर्ण मुसकरा रहे थे··अनजाने ही सत्य बोलकर जो शान्ति अनुभव हुई थी, उसी की निर्मलता से जनमी थी वह मुसकान ! ऐसी शांत, सरल मुसकान जैसे सूरज के जनम की मुलायम मखमली किरण होठों से आ चिपकी हो।

सन्ध्या समय युद्ध थमा तब वापस शिविर की ओर लौटते हुए कर्ण को वही घटना याद हो आई थी···

पांडवों की ओर से सन्धि-प्रस्ताव लेकर आए द्वारिकाधीश कुछ निराश और कुछ क्षुब्ध होकर पांडवों के पास लौट रहे थे। दुर्योधन ने सदा

की तरह स्वभावतः धृष्टता का प्रदर्शन ही किया था। श्रीकृष्ण के हर प्रस्ताव और उसके शुभाशुभ संकेत पर उसने एक ही रट लगा ली थी—"बस, द्वारिकाधीश ! मेरी ओर से उत्तर यही है। पांडव यदि राज्य चाहते हैं, तब उन्हें रणक्षेत्र में ही वह पाना होगा।"

श्रीकृष्ण चुप हो गए थे। विदा होते समय जब कुरु-राज भवन से बाहर आए तब कर्ण उन्हें सम्मान सहित विदाई देने पहुंचे। वासुदेव का वैशिष्ट्य था किसी भी स्थिति में विचलित न होना···राजभवन के भीतर से बाहर आने तक उन्होंने आश्चर्यजनक ढंग से अपने आप पर पूर्णतः वश कर लिया था, सहज हो चुके थे।

कर्ण के मन में श्रीकृष्ण के प्रति अपार स्नेह और श्रद्धा थी। क्यों थी ? यह कभी नहीं जाना, पर जब-जब उन्हें अपने सामने पाते, तब-तब यह स्नेह-श्रद्धा उमड़ आती। जितनी बात होती, उससे कुछ जानने-समझने को ही मिलता। मन कहता था—"यशोदा नन्दन ! केवल वीर नहीं, सत्यासत्य का विवेचन करने में साक्षात् ब्रह्म की तरह हैं ! सुख-दुःख आनन्द और शोक उनके लिए सहज···समान !"

श्रीकृष्ण रथारूढ़ हुए। कर्ण ने स्नेह से भरकर उन्हें देखा···सहसा कृष्ण ने कहा था—"आओ, कर्ण। कुछ समय मेरे साथ रहो। मैं तुमसे कुछ वार्ता करना चाहता हूं।"

"अवश्य वासुदेव ! मैं आनन्दित होऊंगा।" कहकर कर्ण भी उनके साथ रथ पर बैठ गए।

विदुर के यहां ठहरे थे कृष्ण। वहीं कर्ण को ले पहुंचे। एकान्त कक्ष में चर्चारंभ हुआ। कर्ण उस समय तक चकित थे कि श्रीकृष्ण क्या कहनेवाले हैं ? मन ने कहा था—हो सकता है कुन्तीपुत्र ! कि वह दुर्योधन को समझाने-बुझाने के लिए कर्ण से अनुनय करें ? सहायता मांगें ?"

पर कृष्ण जो बोले, उसने चमत्कृत कर दिया था कर्ण को। अवाक् उन्हें देखते ही रह गए···

बात कहकर कृष्ण मुसकराने लगे थे—दृष्टि कर्ण की आंखों में खुपी हुई।

कर्ण आश्चर्य और अविश्वास के सागर में गोते खाते हुए ! लग रहा

था कि श्रीकृष्ण का श्याम रंग समुद्र की भांति सब ओर बिखर गया है और इस अनन्त की गहराइयों को पाने की व्यर्थ-सी चेष्टा कर रहे हैं कर्ण। कभी सुना अवश्य था कि श्रीकृष्ण नीति, ज्ञान और योगशास्त्र के अद्‌भुत ज्ञाता हैं, किन्तु राजनीति की इतनी गहरी और बारीक गोटों को चलाने का उन्हें सहज अभ्यास है, पहली बार जाना…

कृष्ण ने जिस तरह बात प्रारम्भ की, उसीने कर्ण को अकचका दिया था…जो समझा था कर्ण ने—वह तो निश्चित ही नहीं कहनेवाले थे वासुदेव ! कुछ और…संभवतः समझ से परे, बोलने जा रहे थे वह… भूमिका ने ही हकबका दिया था कर्ण को।

श्रीकृष्ण ने सहज मुसकान चेहरे पर उगायी। लगा था कि कोई बच्चा देख रहा हो। जब-जब नीति-ज्ञान का कोई उपदेश करते थे, तब-तब यही भोलापन और सहजता उनके चेहरे पर होती थी। कर्ण उसी पल गम्भीर हो चुके थे, किन्तु जब श्रीकृष्ण ने कहा था—"वीर ! तुम जानते ही होगे कि स्त्री दो तरह की संतानों को जनमती है। एक कहलाती है—कानीन और दूसरी सहोढ़ ! कानीन वह, जो उनकी कौमार्यावस्था में पैदा हो और सहोढ़ वह जो विवाह के बाद जन्म ले !"

…कर्ण चुप ! अकुलाए हुए; माथे पर बल और दृष्टि में बेचैनी। एक क्षण के लिए चिन्तित भी हुए थे—कहीं द्वारिकाधीश राजनीति की कोई चाल तो नहीं चल रहे हैं, जिसमें बिना अधिक सोचे-समझे हुए सरल कर्ण फंस जाएं ? सतर्क हुए। अपने आपको सहेजा, पूछा—"मैं समझा नहीं यशोदा नन्दन ? तुम कहना क्या चाहते हो ?"

कृष्ण हंसे—"चिन्तित मत हो, वैकर्तन ! ऐसा कुछ कहने-करने नहीं जा रहा हूं, जिसमें उलझाव हो। मैं तुम्हें यहां स्नेह-भाव से ही लाया हूं…इसलिए कि तुम्हारे प्रति मेरे मन में सदा ही स्नेहादर रहा है‥ मेरी बात का उत्तर दो।"

कर्ण ने कह दिया था—"जानता हूं। अब आगे ?"

कृष्ण ने एकदम से कहा था—"तब तुम कानीन हो, वसुषेण ! और कानीन को भी उसी पिता की संतति माना जाता है, जिससे उसकी माता का विवाह हुआ हो ? इसलिए तुम भी मेरी बुआ कुन्ती और फूफा पांडु

के पुत्र हुए !"

कर्ण का चेहरा एकदम फक् पड़ गया था—उनका जीवन रहस्य वासुदेव जानते हैं ? फिर लगा था कि क्या बेतुका सोचते हैं वैकर्तन ? श्रीकृष्ण की चतुर चपल दृष्टि से कौन-सा रहस्य है जो ओझल रह पाता हो ! अपने चौंकने पर काबू करके मुसकरा दिए थे—"जानता हूं, देव ! अब आगे ?"

'पांडव तुम्हारे अपने ही भाई हैं कर्ण ! तुम सूर्यांश हो ! उतने ही ज्योतित पराक्रम हैं तुममें, उतना ही तेज ! अब तक पांडवों को ज्ञात नहीं है कि तुम उनके बड़े भाई हो, जिस क्षण ज्ञात हो जाएगा—वे पांचों तुम्हारे चरणों में आ गिरेंगे। अर्जुन श्रद्धापूर्वक गांडीव तुम्हारी चरण-धूलि में बिछाकर नतमस्तक हो जाएगा। मैं उन सभी को अच्छी तरह जानता हूं ···और चाहता हूं कि मेरी बुआ के कुल का शुभ हो··· इस शुभ में ही धर्म की रक्षा भी है।" बोलते-बोलते कृष्ण कुछ थमे। तीखी बहुत गहरे तक खुप जाने वाली दृष्टि कर्ण के गौरवर्णीय चेहरे पर टिकी रही··· सुनहरी आंखों में तैरती हुई - खोज रहे थे कृष्ण—कर्ण के भीतर क्या घट रहा है ?

कितना खोज सके, कितना नहीं—अज्ञात ! किन्तु कर्ण ने मुसकराकर कहा था—"बोलते जाओ, गोपाल ! तुम सदा ही रहस्यों के उद्घाटक रहे हो। भले संसार के रहस्य हों, या प्रकृति के···तुम हर रहस्य के जानकार हो। कहे जाओ, सुन रहा हूं···सुनकर आनन्दित भी होता हूं—क्योंकि तुम्हारी भाषा कोमल है, स्वर मीठा और दृष्टि निर्मल ! कम-से-कम वह सुख तो लेने ही दो मुझे—बोले जाओ।"

कृष्ण शांत। कर्ण के भीतर क्या घट रहा है और कैसी उथल-पुथल हुई है—किस तरह गम्भीर कर्ण उस उथल-पुथल को दबा सकते हैं—समझ चुके थे कृष्ण। कहा था—"तुमसे यही बातें सुनकर आनन्द मिलता है सूर्यपुत्र ! तुम्हारे जीवन-जन्म का रहस्य मुझे बहुत पहले ज्ञात हो चुका था···यों, वह विशेष रहस्य है भी नहीं—भला वह रहस्य भी क्या रहस्य हो सकता है, जिसकी एक परत सदा सबके सामने रहती हो।"

"सो क्या ?" सुख लेते हुए कर्ण ने प्रश्न किया।

श्रीकृष्ण की पलकें झुकीं, कर्ण के पैरों से किरणों की तरह दृष्टि जा टकरायीं—"तुम्हारे ये पैर··· इन पैरों को देखकर द्रौपदी की स्वयंवर सभा में मुझे लगा था कि मैं अपनी बुआ कुन्ती को देख रहा हूं···?" कृष्ण जोर से हंसे।

कर्ण ने एक गहरा श्वांस लिया—मुसकान चेहरे पर बनाए रखी। कहा—"अब काम की बात पर आ जाओ, वासुदेव ?"

"आता हूं, आता हूं···" कहते हुए श्रीकृष्ण ने आसन ग्रहण किया। कहने लगे थे कि जैसे ही पांडवों को मालूम होगा कि कर्ण उनके बड़े भाई हैं, वे इस वंश और राज्य के शुभार्थ कर्ण को ही कुरु-राज बनाएंगे···यही नहीं, समाचार पाते ही वे हर्षोन्मत होकर दौड़े आएंगे···उनका अभिषेक करेंगे, अपनी पिछली भूलों के लिए पश्चात्ताप भी करेंगे और आवश्यकता हुई तो वंश-राज्य प्राप्त करने में कर्ण के सहायक सिद्ध होंगे ! वे पांचों भाई आज्ञाकारी सेवकों की तरह कर्ण की सेवा में आगे-पीछे चलने लगेंगे···कोई चंवर ढुलाएगा, कोई छत्र लगाएगा, कोई चरणों पर जल डालेगा और कोई···"

"बस्-बस्—बस् यशोदा नन्दन ! बस् !" कर्ण ने हंसते हुए उन्हें रोक दिया था। आनन्द से उनकी आंखें भर आई थीं, किन्तु पुतलियां चपलता और चालाकी से श्रीकृष्ण की प्रशंसा करती हुईं। पूछा—"मैं जानता हूं, श्रीकृष्ण कि मेरे प्रिय भाई सत्य ज्ञात होने पर वही सब करेंगे, जो तुम कह रहे हो··· पर मेरी रुचि यह जानने में अधिक है कि तुम कहना क्या चाहते हो ? आगे बढ़ो !"

"वह तुम समझ रहे हो कुन्तीपुत्र ! अच्छी तरह समझ चुके हो !" वासुदेव के स्वर में सहसा गंभीरता उतर आई थी—"मेरी इच्छा है कि

सत्य को सामने लाओ और इस विशाल पृथ्वी खंड का राज्य निष्कंटक भोगो। गांडीवधारी का पराक्रम, भीम का बल, युधिष्ठिर का ज्ञान···यह सब तुम्हारे सहायक सिद्ध होंगे और तुम भरत खंड को वह राज्य दे सकोगे, जो यहां कभी नहीं रहा !"

"···हूं, आगे कहो ? और कुछ ?"

"जितना, जो कुछ कह चुका हूं, कर्ण ! वह स्पष्ट है। मेरी इच्छा है कि तुम धर्म के पक्ष में आओ। न्याय से यह राज्य अधिकार तुम्हारा ही है। तुम ही पांडवों और कौरवों में सबसे बड़े हो। उत्तराधिकार भी तुम्हारा ही बनता है···" जिस सरलता से श्रीकृष्ण कहे जा रहे थे, जितनी आशा और विश्वास से कर्ण की आंखों में झांक रहे थे, उसका अनुभव कर कर्ण भावावेश से भर उठे। थूक का घूंट निगलकर अपने ही भीतर की डुबडुबाहट से उबरने का प्रयत्न किया था। कहा था—"जानता हूं··· सब जानता हूं वासुदेव ! तुम उचित ही कह रहे हो !"

सहसा कर्ण चुप हो रहे। उठे और चहलकदमी करने लगे। कुछ पलों के बाद बोले थे—"जब तुम्हें मेरा जन्म रहस्य और माता-पिता के बारे में सारी जानकारी है, तब तुम्हें यह भी ज्ञात होगा कि मुझे जन्म से ही न्याय नहीं मिला। मेरे वांछित अधिकार से मेरी माता ने ही मुझे दूर कर दिया। मेरे शुभाशुभ का विचार किए बिना माता कुन्ती ने मुझे जल में बहा दिया और तीन नदियों की यात्रा करता हुआ अनायास ही मैं अधिरथ के हाथ लगा, जिन्होंने अपनी पत्नी राधा को मुझे सौंपा ··"

कृष्ण सुनते रहे—कर्ण के स्वर में सहसा ही भर्राहट आ गई थी। लगा था कि शब्द जल में भीगे हुए बाहर निकल रहे हैं···सहानुभूति और स्नेह से भर उठे। कर्ण उनकी ओर से चेहरा मोड़कर बोल रहे थे··· श्रीकृष्ण को लगा था कि उन्होंने मृत्युंजय की सबसे दुखती रग पर हाथ रख दिया है···पीड़ा को न संभाल पाकर कर्ण अपने से ही जूझ रहे हैं··· थक रहे हैं···

तभी कर्ण पुन: बोलने लगे थे—"जानते हो वासुदेव, राधा से मुझे क्या मिला है ? वह सब जो माता से किसी पुत्र को मिलता है। स्नेहमयी राधा ममता से कितनी भरी हुई हैं, तुम इसी से अनुमान लगा सकते हो

कि मुझे पाकर ममतावश वह इतनी आनंदित हुईं कि उनकी छातियों से दूध निकलने लगा···उसी दूध का पान करके मुझे जीवन मिला है। इस देह की हर नस में यदि माता कुन्ती का रक्त है तो उस रक्त को बढ़ानेवाला दूध देवी राधा का मिला हुआ है कृष्ण !" बोलते-बोलते वैकर्तन भावुक हुए जा रहे थे···लग रहा था कि सूर्य की आभा से मेघ-दल ने जुड़कर वातावरण को नमी से भर दिया है···उनकी श्वासें वायु के झोंकों जैसी हो गई थीं जो सुननेवाले के मन को रह-रहकर सिहरा दें। वह बोले थे—"··· राधा मां ने मेरा मल-मूत्र उठाया है, मेरी उदासियों में वह उदास हुई हैं, मेरी पीड़ा में उन्होंने निद्रा त्यागी है, दर्द सहा है···सारे जीवन अधिरथ और राधा मुझे वात्सल्य से सहलाते-दुलराते रहे हैं। मेरे सुख में सुखी हुए हैं, मेरे दुःख में मुझसे आगे बढ़कर सहभागी हुए हैं···ऐसी स्थिति में क्या तुम यह चाहोगे कि मैं मनुष्यत्व से गिर जाऊं? स्वार्थ के लिए उन वरदानों से परे हो जाऊं? उनका पिण्डलेप करूं?" कुछ क्षण थमे थे कर्ण फिर पूछा था—"तुम्हीं से उत्तर मांगता हूं वासुदेव, बतलाओ मेरा कर्तव्य क्या है? मेरे लिए क्या करना धर्म है?"

कृष्ण शांत थे। टकटकी बांधे हुए कर्ण को देखते रहे। उत्तर नहीं दिया। दृष्टि कह रही थी—"तुम धन्य हो कर्ण! तुम अक्षय-कीर्ति हो!"

कर्ण ने कहा था—"मेरा मन कहता है, वासुदेव! मैं ऐसा अधर्म और अकर्तव्य अपनी माता राधा और पितृ अधिरथ के प्रति नहीं कर सकता! मैं आज कुन्ती को अपनी माता कहकर क्षुद्र स्वार्थ के लिए ममता के सत्य से अनदेखा नहीं कर सकता!" कर्ण ने उत्तर की आशा में श्रीकृष्ण की ओर देखा।

श्रीकृष्ण ने शांत स्वर में कहा था—"मैं तुम्हारी बातें सुन रहा हूं, सूर्यपुत्र! कहो···मुझे मालूम है कि तुम बहुत कुछ कहना चाहते हो। वह सब सुन-जानकर मुझे सुख मिलेगा।"

कर्ण ने आगे कहा था—"तुम्हें यह भी भली प्रकार ज्ञात है कि दुर्योधन ने मुझे केवल मित्रता ही नहीं दी, अन्धविश्वास भी दिया है! जब सब ओर से मुझ पर कुल-जाति और वंश का नाम लेकर धिक्कार पड़ रहे थे, तब वही वीर था जिसने आगे आकर मुझे छाती से लगाया था! मुझे मित्र

कहा था, मुझे राज्य, कीर्ति, समाज-सम्मान और अधिकार दिए थे ! वह सारे जीवन पांडवों से मेरी ही शक्ति और मित्रता के विश्वास पर जूझा है ! अब, जबकि राजनीति युद्ध की देहरी तक जा पहुंची है, तब मैं कैसे मित्रघात कर सकता हूं ?···तुम ही मुझे उत्तर दो ? मुझे विश्वास है यशोदा नन्दन, तुम नीति-धर्म के ज्ञाता हो।···तुमसे सत्य का कोई कण अनदेखा नहीं, तुम सृष्टि के प्रतिपल को पहचानते हो···मुझे सुझाओ—इस समय मेरा क्या कर्तव्य होना चाहिए ?···मुझे यह भी ज्ञात है कृष्ण कि धर्मात्मा युधिष्ठिर को जैसे ही ज्ञात होगा कि मैं उनका बड़ा भाई हूं, वैसे ही वह अपना सम्पूर्ण राज्य मुझे सौंप देंगे, किन्तु मेरी बेबसी यह है कि मैं अपने वचन के अनुसार वह राज्य दुर्योधन को दे दूंगा।···जबकि मेरी हार्दिक इच्छा है कि राजा धर्मराज युधिष्ठिर ही हों !"[1]

कृष्ण चुप थे। प्रतिक्रियाहीन। दृष्टि के किसी कोने पर श्रद्धा और आदर का एक बिन्दु चमचमा रहा था·· यह बिन्दु बोलता हुआ—"धन्य हो कर्ण ! तुम अमर हो !"

कर्ण बोलते-बोलते बुरी तरह अपने ही भीतर थकने लगे थे···ऐसे जैसे अपने ही आंसुओं के समुद्र में हाथ-पैर मारते तैरने की कोशिश कर रहे हों, हर मांस-पेशी क्रमशः निद्रित होती हुई, हर चेष्टा, हर गति में हौले-हौले हलकापन उतरता हुआ···सहसा उन्होंने श्रीकृष्ण की दोनों बांहें थाम ली थीं। आंखें आंसुओं से भरी हुई—"कृष्णचन्द्र ! मैं जानता हूं कि तुम उत्तर नहीं दोगे। मैं यह भी जानता हूं कि इस महायुद्ध की अग्नि में मैं ही नहीं, सभी राजा भस्म होंगे ! दुर्योधन, दुःशासन आदि सभी मारे जाएंगे, किन्तु कम-से-कम इस समय मुझे मेरे पुत्र-धर्म, मित्र-धर्म से विलग होने को मत कहो !"[2]

---

१. महाभारत : उद्योग-पर्व : के १४१वें अध्याय में श्लोक-क्रम २० से २४ तक कर्ण का उपरोक्त कथन आया है।

२. महाभारत : उद्योग-पर्व : के १४३वें अध्याय में कर्ण ने यह भविष्यवाणी भी की है कि वह स्वयं और अनेक राजा, दुर्योधन, दुःशासन आदि सभी गांडीव की अग्नि और इस युद्ध में भस्म हो जाएंगे !

श्रीकृष्ण शान्त रहे। ऐसे देखते हुए जैसे कर्ण नहीं, एक भोला, मासूम बालक उनके सामने खड़ा हो···बालक के स्वर्णिम रंग पर जगह-जगह समाज, स्थिति और व्यवस्था कोड़ों की मार बनकर बरसी हो···घाव-ही-घाव हों और वह पुकार-पुकारकर अपने लिए न्याय मांग रहा हो···स्वर हिचकियों से डांवाडोल हो रहा हो, सांसें पीड़ा से उखड़ चुकी हों···

"वासुदेव !" सहसा कर्ण का स्वर दृढ़ हो गया था। इस तरह जैसे अचानक उन्होंने अपने अश्रु-समुद्र को पार करके आत्मशक्ति का कठोर किनारा पा लिया हो। कहा था—"···यह तो एक यज्ञ हो रहा है जिसमें तुम मुझे अर्जुन के हाथों हत देखोगे ! वह क्षण यज्ञ का पुनश्चिति कर्म होगा ! मुझे तो केवल यही दुःख हो रहा है कि मैंने अनेक बार दुर्योधन की प्रसन्नता के लिए अपने ही भाइयों को कटु-वचन बोले हैं···उन्हें कष्ट पहुंचाया है !"[1]

श्रीकृष्ण की दृष्टि में आश्चर्य की एक बिजली कौंधी—लुप्त हो गई ! संभवतः उन्हें कर्ण के सत्यबोध पर पल-भर के लिए विस्मय हुआ था। स्नेहादर अधिक गहरा हुआ।

थोड़ी देर के लिए वातावरण बहुत बोझिल हो उठा था। कर्ण और कृष्ण दोनों ही शांत बैठे रहे थे···कभी एक-दूसरे की चुप दृष्टियां एक-दूसरे को छूतीं और कभी यहां-वहां जुड़ जातीं !

× × ×

शिविर में आकर स्वयं भी स्तब्ध बैठे रह गए थे। लगभग उसी तरह खोये हुए, जिस तरह उस दिन वासुदेव से भेंट में खो गए थे !

स्मरण की इस बाढ़ में यह भी याद नहीं रहा था कि किस क्षण शिविर में प्रवेश किया था, किस समय, किन सेवकों ने वस्त्राभूषण और अस्त्र उतारे और कब थकान से चूर होकर आसन ग्रहण किया !

---

1. महाभारत : उद्योग-पर्व : के १४१वें अध्याय में श्लोक-क्रम ४० से ४८ के बीच कर्ण का यह संवाद आया है। इसमें उन्होंने अर्जुन के हाथों अपनी मृत्यु होने की भविष्य घोषणा भी की है और इस बात के लिए भी दुःख प्रकट किया है कि वह 'दुर्योधन की प्रसन्नता के लिए पांडवों के प्रति कटु-वचन बोलते रहे !'

युधिष्ठिर और फिर भीम···एक के बाद एक को छोड़ते गए हैं कर्ण ! युद्ध के क्रूर संहार का एक दिन और बीत गया है···कर्ण के पराक्रम ने पांडव सेना को हड़बड़ी की हालत में ही नहीं, पराजित मन:स्थिति में पहुंचा दिया है। कुछ समय पूर्व ही प्रसन्नमन दु:शासन ने सूचना दी थी—"धन्य हो राधापुत्र ! तुम्हारे कालवत प्रहारों ने युधिष्ठिर को रण-क्षेत्र से भागने के लिए लाचार किया ! पांडव पक्ष अकुलाया हुआ है। तुम्हारे रण-कौशल को देखकर विजयश्री की कल्पनाए हवा हो चुकी हैं !"

सब सुना—चुप रहे। सिर्फ मुसकरा भर दिए। युद्ध में उस सफलता पर मुसकराये थे या कि इस सत्य से जानकार होने के कारण कि वह युद्ध का अंतिम क्षण सत्य जानते हैं···परिणाम को बहुत पहले आंक चुके हैं··· यही नहीं, उस दिन कृष्ण के सामने घोषणा भी कर दी थी उन्होंने···

"मैं जानता हूं वासुदेव ! अन्ततोगत्वा विजय धर्म की ही होगी।" कैसे, कब, और क्यों उनके मुंह से यह भवितव्य भाषित हो गया था—स्वयं नहीं जानते, पर इतना जानते हैं कि भावावेश में लगातार बोले चले गए थे—'यह प्रयत्न करना अब मुझे व्यर्थ ही जान पड़ता है कि यह महा-समर थामा जा सकेगा। अब कोई ऐसी स्थिति शेष नहीं रही है, जबकि दुर्योधन अपने निश्चय से डिग सके, अत: उचित यही होगा कि तुम गांडीव-धारी अर्जुन को अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित कर रणभूमि में ले आओ। यह जानते हुए भी कह रहा हूं कि जहां धर्म होगा, जय वहीं होगी।"

कृष्ण कुछ नहीं बोले थे। जितना कुछ पहले कह दिया था, उसके अतिरिक्त उनके पास कहने को कुछ भी शेष नहीं रहा था। अब था शेष सिर्फ सुनना···सो सुने गए।

"यह वीर-वंश-विनाशक युद्ध होगा। यदि हम लोग जीवित रह गए, तो तुमसे भेंट हो जाएगी—आनन्द मिलेगा और यदि मारे गये तब स्वर्ग में ही तुमसे भेंट करेंगे ! मुझे तो लगता है कि सम्भवत: अब हम लोगों की स्नेह-भेंट स्वर्ग में ही होगी।"

अपरोक्ष रूप से कर्ण कितनी ही बार कह चुके थे कि उनका अन्त सन्निकट है। कौरवों का नाश भी उसके साथ, पर भाषा इतनी सधी, सरल और साधारण थी कि सामान्य के लिए अति असामान्य।

कृष्ण समझ रहे थे।

विदा लेते-लेते कर्ण स्नेह से भरकर श्रीकृष्ण से गले मिले, फिर अपने गृह-क्षेत्र की ओर लौट पड़े।

उसके बाद अब भेंट होनी है···अर्जुन के सारथी रूप में हैं श्रीकृष्ण। श्रद्धा से कर्ण ने उन्हें स्मरण किया है।

लेट रहे।

शिविर-द्वार पर हलचल हुई। चिकित्सक आ पहुंचे थे। रण-क्षेत्र में आये घावों पर लहू अब भी रिस रहा था। कुछ घावों पर सूखकर रक्त की पपड़ियां जम चुकी थीं।

चिकित्सक उनका उपचार करने लगे। कहीं पट्टियां बंधी, कहीं औषध लगाई गई। कई-कई घावों को धोते और साफ करते समय चिकित्सकों ने कितनी ही बार शरीर पीड़ा पहुंचाई होगी पर···कर्ण उस सब से अलग। कष्ट को पीते हुए। चेहरे पर तनिक भी पीड़ा या शोक नहीं।

चिकित्साकार्य पूरा हुआ। वे चले गए। कर्ण आसन पर पुनः लेट गये।

कुछ पल के लिए पलकें मूंद लीं। हौले से करवट लेनी चाही तो बांह में आया खंग का घाव जोर से कसक उठा।

उसी के साथ याद हो आए युधिष्ठिर ! उन्होंने खंग घुमाया था और बचाने की चेष्टा करते-करते भी कर्ण की बांहों को छू लिया था खंग ने ! होंठ भींचकर पीड़ा को सहा, कसक झेल गए।

पर इस कसक से मुक्त कैसे हों कि घाव युधिष्ठिर के खंग से आया था ! यह सोचकर चकित ही होते हैं कि सदा अपनों की चोट ने घाव दिए; कसकाया और कई-कई बार रुला भी दिया।

माता हो या भाई···भीष्म जैसे कुलपुरुष हों या द्रोणाचार्य जैसे ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण ! किसी ने कर्ण के घावों को सहलाया नहीं है···जिस अपेक्षा और आशा को लिए जीते रहे थे कर्ण, वह व्यर्थ हुई···सोचते थे कि एक दिन कुन्ती आयेंगी, उन्हें पुत्र कहेंगी। फिर एक सार्वजनिक घोषणा करेंगी कि कर्ण उनके पुत्र हैं ! कानीन !

पर वैसा नहीं हुआ। कुन्ती आयीं अवश्य, कर्ण को उन्होंने पुत्र भी कहा किन्तु वह आना और सम्बोधित करना भी इस खंग के घाव की तरह ही कर्ण को लगा।

घाव ज्यादा ही कसकने लगा है···बेचैनी से भर उठे। लगा कि केवल घाव नहीं कसक रहा है, अपितु कर्ण के समूचे शरीर में ही दर्द की लहरियां उठने लगी हैं। मन से मस्तिष्क तक ये लहरें बिजली की तरह कौंधती हैं और उस कौंध में कर्ण के विगत की अनेक घटनाएं दीखने लगती हैं।

इन घटनाओं को कितनी ही बार कर्ण ने अपने सारे आत्मबल से दबाए रखना चाहा है। चाहा है कि कुछ भी याद न आये। विगत का हर पल-छिन भूल जाए प्रतिसूर्य—पर जैसे-जैसे प्रयत्न किया है वैसे-वैसे ये घटनाएं ज्यादा ही शक्ति से उभरी हैं···टीस ज्यादा और ज्यादा बढ़ती गई है···

महासमर के साथ-साथ इन घटनाओं ने ज्यादा ही उग्रतापूर्ण ढंग से प्रतिसूर्य के मन-माथे को ग्रसना प्रारम्भ कर रखा है···प्रारम्भ में कुचलकर दबाये रखने का प्रयत्न किया था कर्ण ने, किन्तु फिर सारी पकड़ से मुक्त कर दिया, मन-मस्तक !

क्यों किया ऐसा ?

यह भी मालूम नहीं। मालूम हो तो भी तर्क देकर उस सबमें उलझना नहीं चाहेंगे कर्ण !

क्या इसलिए कि वह सब करके कर्ण अपने-आपको हलका करना चाहते हैं। जिस मुसकान हंसी या अहंकारपूर्ण ढंग से हर सत्य को नकारते रहे, हर बार अपने मन पर किसी पीड़ा या शिलावत वजन रखे रहे—उस सबसे मुक्त हो जाना चाहते हैं कर्ण ! अपने ही भीतर आश्वस्त भी हो लेना चाहते हैं कि कहां पुण्य हुआ, कहां पाप ?

पर इस तरह हलका होना असम्भव है ! सत्यासत्य नीरक्षीर से कैसे और कहां तक मनुष्य हलका हो सकता है—यह भी नहीं जानते, किन्तु पिछले कुछ ही घन्टों में मन को जिस तरह सहज होते पाया है, उससे लगता है कि कहीं कुछ है, जिसे पा गए हैं। संभवत: शान्ति··· या यों कि भारहीन हो रहे हैं।

पहले कर सके होते तब इतना कष्ट न उठाना पड़ता। कक्ष में एक स्वर हौले-हौले उभरा है—"हां, वैकर्तन ! इस तरह पहले सोचकर अपने गुण-दोषों को देखा होता, प्रत्येक घटना के सत्यासत्य का विश्लेषण किया होता तो सम्भवत: मन इतना बोझ न ढोये घूमता। पर वैसा नहीं कर सके तुम ! परिणाम हुआ है यह आत्मकष्ट। जीवन-मृत्यु की इस निर्णायक बेला में इतना आत्मकष्ट भोगना पड़ा है तुम्हें !"

सुना—उत्तर नहीं दिया। निश्चय कर लेना चाहते हैं—अब मन से उठते किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं देंगे। केवल उसे सुनेंगे। आत्मालोचन की तीखी पर निर्दोष आलोचना को सहते रहेंगे ! पहले सह सके होते तो इस तरह भावनाओं के वश होकर अपने अनेक श्रेष्ठ गुणों को दोष में न बदला होता।"

युधिष्ठिर के खंग का घाव अब भी कसक रहा है···पर लगता है अर्थहीन है यह घाव ! इसकी कसकन सहने में समर्थ हैं कर्ण ! मृत्युंजयी हैं वे।

जिस खंग-प्रहार को वह सह नहीं सके, वह उनकी अपनी माता का किया हुआ है। बहुत समय नहीं हुआ···युद्ध से कुछ पूर्व, सबसे पहला प्रहार कुन्ती ने ही तो किया था कर्ण पर।

उस प्रहार की पीड़ा मृत्युपर्यन्त नहीं मिट सकेगी। आत्मबल को ज्ञान के पाश से बांधे रखने की चेष्टा करें तब भी उससे पीड़ा नहीं मिटा सकेंगे। एकाग्रता उस दृश्य को धुंधला नहीं सकेंगी, जब वह प्रहार हुआ।

सूर्याराधन की बेला।

कर्ण ने कुछ पल पूर्व अपनी तपती पीठ का अहसास किया था। पलकें खोलीं। इसी तरह, प्रतिदिन वह सूर्य पूजा से निवृत्त होते थे। अर्घ्यदान पुष्पदान किया जा चुका था···तेज ने चेहरे को ज्यादा ही दमका दिया था।

कुशासन समेटने के लिए झुके ही थे कि वे दीख पड़ीं—कुन्ती! स्तब्ध होकर बोल पड़ना चाहा था—"माता, तुम?" किन्तु दांत भींचकर शब्द दबोच लिए···चकित भाव से कहा—'पांडवजननी, आप?"

सूर्य-तेज ने उनका सुन्दर, शालीन चेहरा कुम्हला दिया था···कर्ण को ज्ञान भी नहीं होगा कि कुछ पल पहले वह सूर्य तेज से बचाव के लिए उसी की विशाल देह की छाया लिए हुए प्रतीक्षारत रही थीं कि आराधना पूरी हो···

कुन्ती जितनी कुम्हलायी हुई थीं, लगता था कि आंखें उतनी ही भरी हुई हैं। कर्ण के प्रश्न का उत्तर न देकर टकटकी बांधे हुए देख रही थीं··· इस दृष्टि ने प्रतिसूर्य को कुछ क्षण के लिए विचलित कर दिया। यही तो वह दृष्टि है—जिसे सार्वजनिक रूप से चाहा है कर्ण ने? कितनी-कितनी बार, कितने ही अवसरों पर भरी भीड़ के बीच, अपने-आपको सूतपुत्र कहे जाने पर कर्ण ने कुन्ती की ओर चेहरा घुमाकर इसी दृष्टि की अपेक्षा की है उनसे···पर वह दृष्टि आज, इस एकान्त में उनके सामने है···

अपने से ही पूछने को मन हो आया था—अर्थयुक्त या अर्थहीन ?

कुन्ती इस बीच सहज हो चुकी थीं। कहा—"हां, मैं ही हूं वसुषेण—देर से तुम्हारी सूर्याराधना समाप्त होने की प्रतीक्षा कर रही थी···"

"आज्ञा कीजिए, देवी !" कर्ण प्रणाम करते हुए बोले थे—"मैं राधा और अधिरथ का पुत्र कर्ण आपको प्रणाम करता हूं। आज्ञा दें कि मैं आपका क्या शुभ करूं ?"

तुरन्त उत्तर न दे पाकर कुछ पल कुन्ती उसी तरह कुम्हलाई हुई खड़ी रहीं···लगा कि सूर्य की तपन ने उनके कोमल होंठ झुलसा दिए हैं। जीभ फिराकर उन्हें तर किया, बोलीं—"कर्ण ! सम्भवतः तुम्हें यह ज्ञात नहीं कि तुम राधा और अधिरथ के नहीं, मेरे और सूर्य के पुत्र हो ! तुम वीर पांडवों के अग्रज हो, पुत्र ! मैंने तुम्हें कौमार्यावस्था में जन्म दिया था। अतः तुम मेरे कानीन हो।"

कर्ण ने सुना, कुन्ती के होंठों से सुनकर सुख मिला, किन्तु तुरन्त ही वह संभल गए। मन धीमे से उनके अपने कान में कह गया था—"कर्ण ! जिस सत्य का उद्घाटन तुम अपनी माता के मुंह से ही सुनना चाहते थे—सुन चुके। पर एकांत में। वह सत्य कैसा बिना सिर-पैर का लगता है, जो किसी एकान्त वन में गूंजे और राजभवन में गुम जाए।"

कुन्ती कुछ और कहना चाहती थीं, पर कर्ण का तपा चेहरा अधिक ही तप गया। स्वर किरणों की तरह अन्धेरे की छाती चीरनेवाला···नुकीला हुआ। बोले—"अच्छा, यह सब तो बहुत आश्चर्यजनक और कल्पनातीत लगता है, महारानी ?" व्यंग्य करना नहीं चाहते थे, किन्तु लगा था कि अपने पर ही वश नहीं कर पा रहे हैं···मन में एक साथ, इतना कुछ उमड़ आया था कि सब उगल देना चाहते थे—पर थमे रह गए।

"पुत्र !" कुन्ती आगे बढ़ आईं। उनकी दृष्टि ही नहीं सारे शरीर में अजब-सी सिहरन भरी हुई थी···क्यों न हो ? वह भी तो जीवन में पहली बार पुत्र को पुत्र पुकार पाकर विचित्र-सा कम्बन अनुभव कर रही होंगी ? कर्ण ने सोचा। यह कम्पन उन्हें भी अनुभव हुआ था, पर कब केवल क्रोध में बदलने लगा—नहीं जानते।

कुन्ती कह रही थीं—"पुत्र ! समय, स्थिति और समाज-भय ने मुझे

अबतक सत्य को छुपाये रखने के लिए बाध्य किया था, किन्तु लगता है कि अब वह समय आ गया है, जब लोग कुन्तीपुत्र को सूतपुत्र न कहें ! तुम्हें तुम्हारा वांछित मिले ! और अपनी सम्पूर्णता से मिले।

कर्ण मुसकराये। यह मुसकान ऐसे थी जैसे रेगिस्तान के तपते-झुलसते अन्तहीन समुद्र पर कोई मृग-मरीचिका दिखे···

कुन्ती को टोक देना चाहते थे, पर अपने को संभाले रहे। चुप, शान्त खड़े हुए माता के चरणों पर दृष्टि गड़ाए रहे···यही चरण तो हैं, जिन्हें मैंने छूना चाहा पर कभी छाया तक न पा सका ! अपने ही पैर सहलाता हुआ, अपने को ही छलता रहा ?

कुन्ती कहे गई थीं—"तुम परम प्रतापी हो, वीर ! अपने पिता की तरह ही तेजस्वी और गुणवान् हो ! तुम्हारा ही तेज है, जिसके बल पर दुष्ट दुर्योधन सरल युधिष्ठिर और उसके छोटे भाइयों को छलता आया है। तरह-तरह से उनका अपमान करता आया है ! अनजाने में ही सम्भवतः तुम दुर्योधन से स्नेहवश उस सबके सहभागी हुए हो···पर इस सत्य को जान लेने के बाद मुझे पूरा विश्वास है कि तुम वैसा नहीं करोगे। मेरी इच्छा है कि अब तुम कुरु-राज्य की सारी लक्ष्मी और राज्य प्राप्त करके सुख भोगो। जिस राज्याधिकार के लिए पांडव युद्ध के हेतु बाध्य किए जा रहे हैं—वह तुम्हारा ही है बेटा ! उसे प्राप्त करो और मुझे सुख दो !"

स्नेहपगे शब्दों ने कर्ण को अधिक ही पीड़ित कर दिया था···क्रोधावेश में उबल पड़ना चाहते थे माता पर, किन्तु संयम को सूर्य ने साध लिया था। न जाने कहां से भटकते हुए अपने सम्पूर्ण तेज के साथ वह प्रकट हो गए थे···सूर्य की ओर दृष्टि उठते ही कर्ण के मन में उबलते ढेरों प्रश्न समुद्र की तरह शान्त हो गए···कुछ लहरें शेष रहीं, जिन्होंने छटपटाते हुए उस पल पीड़ा की अभिव्यक्ति की··· "माता ! इस सबको करके मुझे प्रसन्नता होती, सुख भी मिलता। किन्तु अब समय नहीं रहा। यों भी अब कोई नहीं जानता कि मैं तुम्हारा और तेजस्वी सूर्यदेव का पुत्र हूं···जीवन के अधिकतम भाग में यह सत्य, असत्य ही बना रहा है···यहां तक कि गुप्त रहकर लगभग बीत चुका है, अतः उचित यही है कि इसे ऐसा ही बना रहने दें !"

"नहीं-नहीं, बेटे ! इस तरह माता को निराश करना तुम्हारे लिए

उचित नहीं··· तुम उनका कहा मानो, निश्चय ही वह तुम्हारा शुभ विचार-कर यहां तक आई हैं···" सूर्य का स्वर गूंजा।

कर्ण ने आदर और श्रद्धा के साथ उन्हें पलकें मूंदकर प्रणाम किया। कहा—"निःस्सन्देह माता ने संभवतः मेरा शुभ ही सोचा होगा, पर यह सब उसी समय विचारणीय था, जब इन्होंने मुझे त्यागा। मेरी जाति, कुल यहां तक कि सामाजिक अधिकार का लोप कर दिया। पितृ, आप शान्त हों!"

सूर्य बोल नहीं सके—बेबसी से कुन्ती के चेहरे को देखते रह गए।

कुन्ती ने बेटे के उत्तर पर न आश्चर्य व्यक्त किया, न ही लगा कि कुछ अस्वाभाविक कहा है कर्ण ने—सुनती रहीं।

"क्षमा करें, माता!" कर्ण बोले। बहुत चाहा था कि स्वर को संयत रखें, उसमें कठोरता को जुटाए रहे; पर लग रहा था कि वैसा कर नहीं पा रहे हैं। इसके विपरीत अनुभव हुआ था जैसे पवित्र गंगा के जल में उतरकर खड़े ही हुए हैं—कि पैर डगमगा उठे मन हिलता हुआ···" प्रयत्न कर रहा हूं कि आपके शब्दों पर विश्वास करूं किन्तु मेरे साथ जो कुछ बीता है, उसके कारण सहसा मैं विश्वास नहीं कर पा रहा हूं···आपने लड़कपन में मुझे त्यागा ही नहीं था, अपितु एक तरह से मेरे प्राण ही हर लिए थे···मुझे मेरे सारे समाज-जाति और संसार के न्यायिक अधिकारों से विलग कर दिया। मेरे यश को तो आपने समाप्त किया ही, साथ ही मुझे अकुलीन, अज्ञात, कुल-शील कहलाने के लिए जीवन-रण में जूझने भेज दिया? तब, जब मैं भरी सभाओं और समाज उत्सवों से सूत-पुत्र कहलाकर दुत्कारा, प्रताड़ित किया गया, तब आप क्यों नहीं आईं? उस समय आपने अपने मातृत्व की दया मुझ बेबस और निरीह पर क्यों न दिखाई?

"कर्ण! पुत्र?" कुन्ती का स्वर ही नहीं डूब रहा था, अपितु लगा था जैसे वह प्रश्न तेज के कारण झुलस उठी हैं···उनके लिए खड़े रह पाना कठिन ही नहीं असंभव हो उठा है···

किन्तु कर्ण का स्वर बहता हुआ··उसी तरह बहता हुआ, जिस तरह बालक कर्ण कभी अश्वरथी, चर्मणवती और फिर यमुना और गंगा

तक बहता आया था···"आज आप कुल, जाति, माता और पुत्र का सम्बन्ध मुझे बतलाने आई हैं ? तब जबकि आपने मुझे क्षत्रिय होते हुए भी जाति, कुल और अपने योग्य संस्कारों से विलग किये रखा ? इतना अहित तो कोई दुष्ट और क्रूर व्यक्ति अपने शत्रु का भी नहीं कर सकता है माता ?" कर्ण की अपनी आवाज डबडबा उठी थी। इन शब्दों को बोलते समय उन्हें लगा था कि वह वही असहाय बालक हो उठे हैं, जो वेगवती नदियों के मार्ग पर लहरों के थप्पड़ खाता हुआ बढ़ रहा है···जीवन के प्रति अनिश्चित !

कुन्ती के होंठ थरथरा रहे थे···कुछ कहना भी चाहती थीं वह, पर शब्द साथ नहीं, विश्वास और साहस कहीं छिपे हुए···कुन्ती असहाय-सी खड़ीं—रह-रहकर कभी सूर्य के तेज और कभी पुत्र की नदी-सी छलछलाती किनारों में बंधी बेबस धाराओं का बहना देखती हुईं···

कर्ण ने आगे का था—"नहीं, माता ! अब मैं दुर्योधन का साथ नहीं छोड़ सकता ! उसने मुझे वह सब दिया है, जो मेरा नैतिक अधिकार था ! जो मुझे, आपसे मिलना चाहिए था। मैं जानता हूं कि आप मेरा शुभ समझकर ही मुझसे यह सब कहने आई हैं किन्तु अब मेरा धर्म और कर्तव्य दुर्योधन के पक्ष में ही हैं। मैं उसके लिए अपने पराक्रमी भाई का वध करूंगा ! न कर सका तब मैं उसके हाथों हत हो जाऊंगा। किन्तु मुझे मित्र-धर्म से गिरने को न कहें ! यों भी यह धर्म है कि मनुष्य अवसरवादी होकर यदि अपने समर्पित मित्र का साथ छोड़ता है, वह जीवित ही मृतवत् हो जाता है। उसकी लोक-निन्दा तो होती ही है, वह अपना परलोक भी खो देता है।"

कुन्ती निराश हो चुकी थीं। समझ लिया था कि कर्ण को अब उस राह से हटाना सम्भव नहीं, जिस राह पर पहुंचा चुकी थीं · यों भी कर्ण के प्रति दोषभाव से भरी हुई थीं। उससे आगे कुछ कहना भी व्यर्थ ही होता ·· जाने को ही थी कि कर्ण का स्वर सहसा संभल गया था। उसने कहा था—"माता ! आपने मुझे एक बार इस जीवन में मातृसुख का यह जो अमृत दिया है—वह मेरे लिए सम्पूर्ण की प्राप्ति जैसा है, अतः मैं आपका यहां आना व्यर्थ नहीं होने दूंगा !"

कुन्ती ने चकित होकर पुत्र की ओर देखा···

कर्ण की आंखें भरी हुई थीं—पर चेहरा तेजमय। ऐसे ही जैसे उस वन में तेजस्वी सूर्य की आभा के बीच निर्मल गंगा बह रही थी।

"मां ! आश्वस्त हों आप ! मेरे लिए रणक्षेत्र में तुम्हारे चार पुत्र अबध्य रहेंगे। कर्ण उन्हें हत नहीं करेगा···यदि हताहत होने का निर्णय होना ही है तो वह होगा मेरे और अर्जुन के बीच। यदि हममें से कोई एक मारा भी गया तब भी तुम पांच पुत्रों की माता बनी रहोगी। तुम्हारे पांच पुत्र जीवित रहेंगे।"

कर्ण कुछ आगे कहे, कह सकें, इसके पहले ही कुन्ती ने उन्हें अपने हृदय से लगा लिया था···अब तक पांडवों की नाश की शंका और दुःख से व्यथित होते रहे उनके हृदय को कर्ण के अन्तिम संवाद ने सहसा डूबते-डूबते उबार लिया था। बड़बड़ाने लगी थीं—"मैं सुखी हुई पुत्र ! आनन्दित हुई। किन्तु तुम यह मत भूलना कि तुमने अर्जुन को छोड़कर शेष चारों भाइयों को अभय दिया है ! अब मैं जाती हूं, शत्रुदमन् ! सुखी हो !"

वह एकदम मुड़ी—चल पड़ी। इतनी तेज-तेज चाल में गई थीं कि कर्ण के भीतर दबी रही एक इच्छा, शब्दमात्र बनी रह गई। अनबोले शब्द···कहना चाहते थे—"मुझे विजयाशीष दो, माता !"

पर जब तक शब्द निकलते, उसके पूर्व ही भावविह्वल कुन्ती ने उन्हें हृदय से लगा लिया था··· इस स्पर्श ने वे शब्द हृदय में ही घोल दिये··· पुनः आकार लेकर बाहर आयें, इसके पूर्व ही वे चली गईं।

लगता है अब भी चली जा रही हैं…एकान्त में नदी किनारे, बहुत तेज-तेज कदमों में। और कर्ण अब भी चीखकर वह वरदान मांगना चाहते हैं।"

"मुझ…मुझे विजयाशीष दो, माता!"

चीखें भी तो अब कैसे सुन सकेंगी कुन्ती।

सुन भी लिया तो क्या विजयाशीष देंगी?

अनसुना कर देंगी।

और क्या उस समय भी अनसुना ही नहीं कर दिया था कुन्ती ने? कर्ण व्यग्र हो उठे हैं—घाव ज्यादा और ज्यादा कसकने लगा है…युधिष्ठिर का दिया घाव नहीं, माता का दिया घाव।

क्या कुन्ती जानती नहीं थीं कि हर योद्धा अपनी माता से विजयाशीष मांगता है? कर्ण ने भी मांगना चाहा होगा या मांग बैठता?

दे—वह वर दे, इसके पूर्व ही कतराकर चली गईं। वर लेकर – पांडव पांच ही रहेंगे! युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव कर्ण के लिए अवध्य।

मरने जीने का निर्णय होगा केवल अर्जुन और कर्ण के बीच।

करवट लेने का विचार आया, पर विचार बिखर गया। पलकों के दाएं-बाएं कोनों से जल बहता लगा।…आंसू!

आंसू समेट लिए…मन भी समेटा। लगा कि सब बिखर गया है।

उस पल भी यही लगा था कि सब बिखर गया है। देर तक वैसे ही स्तब्ध बैठे रह गए थे। गंगा के निर्मल जल को देखते हुए···कुन्ती से साक्षात्कार और संवाद के बीच मन में जितनी बातें थीं, सब बिखर गईं। युद्ध होगा—यह निर्णय हो चुका था। उस पल लगा था कि यह साध ही रह जाएगी कि कुन्ती के मुंह से 'पुत्र' शब्द का उच्चारण सुनें—किन्तु वही उच्चारण सहसा उनके मन शरीर पर आ गिरा था। पांडवों के कुशलार्थ ही सही, किन्तु मिला था वह अमृत-बिन्दु ! कर्ण अबतक भीगे हुए हैं···

चारों भाइयों की अबध्यता का वरदान दे बैठे थे वह। सम्भवतः उस क्षण मन, बुद्धि,ज्ञान, कुटिलता और नीति सभी कुछ बिसर गए थे। मातृत्व की धारा ऐसी बही कि कर्ण जन्म के बाद और मृत्यु से कुछ पूर्व सहसा पुनः बह गए।

घाव कसक रहा है···पर इस कसकन में अन्तर है।

एक कसक थी, वह जो माता द्वारा अपने अस्तित्व के स्वीकार के लिए कसक रही थी·· और एक कसक है यह जो स्वीकार सुनकर कसक रही है···फिर याद हो आया है—भूलकर बैठे !

विजयाशीष मांगना था माता से। उस पल वह जो वर देतीं, फलित होता, किन्तु अब अर्जुन विजयाशीष का अभेद्य कवच धारण किए हुए आएगा और कर्ण कवचहीन होकर उसका सामना करेंगे !

हंसने को मन हो आया···हंस लेने के अतिरिक्त वश में रहा ही क्या है ? विधि ने सब कुछ तो संयोजित कर दिया ! इस संयोजन के बाद क्या युद्ध का भविष्य अजाना रह गया है ?

वे सब संयोजित बातें याद हो आई हैं, जिन्हें संभवतः विधाता ने पहले से ही निश्चित कर दिया था···

कर्ण का श्रीकृष्ण से अनजाने ही कह जाना कि धर्म जय होगी ! यह भी कि वह स्वयं और दुर्योधन के सभी भाई-साथी युद्ध में हत होंगे ! यह कि उन्होंने माता को उसके दृष्टि-कथन भर से सब सुन-जानकर स्वयं ही वर दे दिया है—"कर्ण के लिए अर्जुन को छोड़कर चारों भाई अबध्य हैं !" और अन्त में यह कि कर्ण जन्मदात्री को सामने पाकर भी उससे

विजय पाने का वर प्राप्त नहीं कर सके हैं !

अब भी क्या कुछ सोचने के लिए शेष रह गया है वैकर्तन ?

कोई दुविधा ?

कर्ण ने युधिष्ठिर के खंग से आए घाव की कसक फिर सही, पर विचित्र प्रतिक्रिया दी थी उस कसक ने—मुसकरा पड़े थे ! पलकें मूंद लीं। मन बहुत हलका। कब नींद आ गई—ज्ञात नहीं।

युद्ध के शेष कुछ दिन भी बीते हैं, पर दुविधा हीन होकर कर्ण इसी तरह निश्चिन्त सोते आए हैं···सहज रहे हैं···भारहीन !

घाव अधिक हो चुके हैं···उनकी कसकें भी निरन्तर हो चुकी हैं··· पर कोई कसक अब कष्ट नहीं देती—देती है एक मुसकान ! सत्य को पा लेने की मुसकान ! यह मुसकान एक प्रकाश रेखा है, जिसके आगे कोई अन्धकार शेष नहीं रहता ! यहां तक कि मृत्यु-भय का अन्धकार भी निःशेष लगने लगा है !

रोज की तरह सूर्याराधन करते हैं···सूर्य की किरणें घायल शरीर पर इस तरह पड़ती हैं जैसे घावों को सहलाने सूर्यदेव हथेली फेरते हों, बेटे के बदन पर। गंगा की लहरों से झूलती हुई हवाओं के झोंके आकर इन घावों में शीतलता पहुंचा देते हैं···

देह तपती है और कर्ण का सेनानायकत्व जागता है। कर्ण दायित्व से भरे युद्धभूमि में जा पहुंचते हैं···शल्य पूर्ववत् आत्मबल गिराते हुए··· दुर्वचनों के एक अंधड़ में खड़े कर्ण अर्जुन को खोजते हैं ··

रोज खोजा है, पर अर्जुन उस समय दीखते हैं या कि कर्ण ही उन तक उस समय पहुंच पाते हैं, जबकि सूर्याभा ढलान लेने लगती है···उस बीच सैकड़ों ही योद्धाओं से जूझते प्रतापी प्रतिसूर्य थककर चूर-चूर हो

जाते हैं···

दुर्योधन हर सुबह के साथ रणभूमि की ओर बढ़ते कर्ण की ओर आशान्वित दृष्टि लिए देखता है, जैसे कहता हो—"मित्र ! मुझे विजय दो ! तुम मेरी एकमात्र शक्ति हो ! बल्कि तुम ही हो, जिसके सहारे मैंने कुरुक्षेत्र का यह महासमर आयोजित कर लिया है ?"

कर्ण मुसकराते हैं। इस मुसकान में आश्वासन घुला होता है—"निश्चिन्त हो, कुरुराज ! कर्ण या तो जीवन देगा या जय। यदि कर्ण को जीवन देकर भी तुम्हारे लिए जयायोजन करना पड़ा, तो करेगा !"

गई रात्रि खीझ पड़ा था दुर्योधन। युद्ध में क्रमशः अपने पक्ष के महारथियों का हत होना असह्य हो उठा था उसे···फिर कर्ण ने भी तो उस समय तक कुछ पांडव रथी, अतिरथियों के नाश के अतिरिक्त कुछ नहीं दिया था उसे ! कहा था—"यह सब क्या हो रहा है वीरवर ? तुम तो कहते थे कि तुम अर्जुन को हत करोगे, पर देखता हूं पांडवों में से नकुल और सहदेव जैसे बालक भी तुम नहीं मार सके हो ? क्या तुम्हारा पराक्रम, वीरत्व और तेज धूमिल हो चुके हैं। क्या तुम्हारा पौरुष समाप्त हो गया है ?

कर्ण खून से नहाए हुए थे···भीमसेन, नकुल और सहदेव ने उन्हें इतनी जगहों पर घायल किया था कि हर अंग घावों से भरा-भरा। पर हर बार वह उन्हें छोड़ते गए थे। या तो किसी हलके वार से मूर्छित कर दिया था या फिर कतराकर शल्य से रथ दूसरी ओर निकाल ले जाने के लिए कह दिया था। मित्र को खरी-खोटी बातों ने आहत किया, पर शांत रहे···अपने को संयत रखकर उत्तर दिया था—"कल का युद्ध कर्ण का अन्तिम युद्ध होगा गान्धारीपुत्र ! कल या तो अर्जुन रहेगा या कर्ण !"

और उसी समय पांडव पक्ष से समाचार लेकर गुप्तचर आ पहुंचा था—"तेजस्वी अंगराज को कल के युद्ध में हत करने का प्रण किया है गांडीवधारी अर्जुन ने। आप सावधान हों !"

कर्ण ने सुना, उत्तर नहीं दिया, मुसकराए और शिविर की ओर बढ़ गए !

अर्जुन का प्रण दिवस और कर्ण के लिए निर्णायक युद्ध का दिन !

सूर्य-पूजा के उपरान्त शांत मन बुद्धि से रथारूढ़ हुए और रणक्षेत्र की ओर बढ़ चले !

नियमतः शल्य ने तिरस्कार वचन सुनाने प्रारम्भ किए···सूतपुत्र ! नराधम ! नीच ! न जाने कितना कुछ···

कर्ण अनसुना करते हुए। सुन रहे हैं केवल अपनी आवाज···गई रात्रि दुर्योधन को दिया वचन—"कल या तो अर्जुन रहेगा या कर्ण !"

और अर्जुन भी कर्ण को हत करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं।

सूर्य क्रमशः तेज बरसाता हुआ···इस तेज के साथ ही किरण की तरह कौंधती कर्ण की दृष्टि···खोज का सिलसिला पुनः प्रारम्भ···

अर्जुन ? कहां हो तुम ? तुम्हें तो आज मुझे हत करना है। तुम प्रतिज्ञाबद्ध हो। आओ, अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो !

पर दूर-दूर तक अर्जुन कहीं नहीं दीखते !

कभी युधिष्ठिर सामने पड़ते हैं, कभी भीम···और कभी बालक नकुल-सहदेव ! सभी कर्ण पर दुःसह प्रहार और बाण-संधान करते हुए, पर कर्ण मुसकराते हैं—प्रहारों के उत्तर में कुछ शब्द स्मरण में कौंधते हैं—"अभय। बन्धु, तुम्हारे लिए कर्ण के पास शस्त्र नहीं, केवल अभय है !"

खोज पुनः प्रारम्भ···

अर्जुन ?

अर्जुन दीखे—तब, जब सूर्य ने पश्चिम दिशा की राह ली…

कर्ण ने सहसा चीखकर शल्य को आदेश दिया था—"मद्रराज! तुरन्त रथ गांडीवधारी के आगे ले चलो!"

शल्य ने उपहास के भाव से कर्ण को देखा, फिर बिना कुछ कहे हुए रथ अर्जुन की दिशा में बढ़ा दिया…

और श्रीकृष्ण भी रथ को उसी तरह कर्ण की ओर ला रहे थे!

कर्ण का माथा तपता हुआ…फिर जैसे समूचा शरीर ही अग्निपिंड की तरह झुलसने लगा—"आज तुम्हें उन सारे दुर्वचनों और अपशब्दों का हिसाब चुकाना होगा कुन्तीपुत्र…जिन्हें तुमने सदा मेरे प्रति बका है! आओ, गांडीवधारी! मैं तुम्हें चुनौती देता हूं—अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो!"

पर अर्जुन के लिए भी कर्ण के पास शेष क्या बचा है? कर्ण के माथे में विद्युत की तरह एक विचार कौंधा?

चार पांडव अवध्य हैं—कर्ण के लिए केवल अर्जुन ही हैं, जो अवध्य नहीं हैं!

अर्जुन का श्वेत घोड़ों से जुता रथ दौड़ाते हुए श्रीकृष्ण भी इसी ओर चले आ रहे हैं…मद्रराज शल्य ने कर्ण के रथ को उसके ठीक सामने लाना प्रारम्भ कर दिया है…

● कर्ण-अर्जुन संग्राम का वर्णन 'महाभारत कथा-माला' के प्रथम खंड 'आरंभ' में आ चुका है। विस्तार से कर्ण की मृत्यु का वर्णन उसमें पढ़ा जा सकता है। इसी भांति कर्ण को जन्म के तुरंत बाद कुन्ती द्वारा नदी में बहाए जाने का वर्णन कथा-माला के तृतीय खंड 'आवाहन' में विस्तारपूर्वक वर्णित है। —लेखक

एक गहरा श्वांस लेकर कर्ण अर्जुन के रथ की पताका देख रहे हैं ··

अर्जुन अबध्य भले न हों, पर वह बध्य भी कहां रह गए हैं ? कर्ण ने ही अपनी ही रथ-पताका से एक फाड़फड़ाहट भरी आवाज सुनी है···

दोनों रथ पास आ रहे हैं। कुछ पलों में ही आमने-सामने होंगे। फिर होगा एक भयावह संग्राम। धरती हिलने लगेगी और आकाश तक पर अद्‌भुत दृश्य उभर आएंगे···

मेघ घुमड़ने लगे हैं···इन घुमड़ते मेघों के बीच कई-कई बार बिज-लियां कौंधी हैं ! सूर्य इन बिजलियों की कौंध से दिल दहलाने वाली गर्ज-नाएं करने लगे हैं···

कर्ण ने धनुष संभाला, दृष्टि अर्जुन पर टिकाईं, एक बार श्रद्धा से गांडीवधारी के सारथी को देखा फिर बाण प्रत्यंचा पर चढ़ाया···घन-गर्जना ने याद दिला दिया है—"स्मरण रहे कर्ण ! विजय धर्म की होनी है···और वह तुम्हारे रहते संभव नहीं !"

बाण छूटा···कौरव-पांडव सेनाओं के युद्ध करते हजारों हाथ थमकर रह गए हैं···कर्णार्जुन संग्राम कुरुक्षेत्र का निर्णयात्मक संग्राम जो है। वही देखने को पक्ष-प्रतिपक्ष सभी आतुर, सभी स्तब्ध !

अर्जुन का बाण भी मृत्युंजय के माथे की ओर चला आ रहा है···ऐसे जैसे वायु को चीरती कोई उल्का लपक रही हो !

कर्ण उससे बचाव का बाण चढ़ा चुके हैं···छोड़ते हैं···एक सरसरा-हट के साथ अपना ही बाण कह गया है—"प्रतिसूर्य ! स्मरण रहे, अर्जुन तुम्हारे लिए अबध्य भले न हों, किन्तु धर्म के कारण बध्य भी नहीं रह गए हैं ! याद रहे ! यह तुम्हें सदा याद रहे !"

मुसकराकर अनजाने ही बुदबुदा उठे हैं कर्ण—"याद रहेगा ! मुझे सदा याद रहेगा ! कम-से-कम मृत्यु का धर्म मुझे याद रहेगा ! अधर्म में डूबे जीवन में यही एक धर्म शेष रह गया है मेरा !" सहसा याद हो आया है—कुन्ती से विजयाशीष भी कहां मांग सके थे वह ?

शायद अच्छा ही हुआ—नहीं मांगा !

□□

मुद्रक : आई० बी० सी० प्रेस, शाहदरा, दिल्ली-११००३२